श्रीराजेन्द्रप्रवचनकार्यालय-सिरीझ २७



श्रीमद्-राजेन्द्रसूरि ।

(हिन्दी-पद्यात्मक)

लेखक—

ओसवंशीय-वकील मिश्रीलाल जैन ।

प्रकाशक—

श्रीराजेन्द्रप्रवचनकार्यालय ।

मु० खुडाला, पो० फालना (मारवाड)



श्रीवीरनिर्वाण २४६४ } प्रथमावृत्ति { विक्रम सं० १९९४
राजेन्द्रसूरि संवत् ३१ } मूल्य १ रुपया. { सन् १९३८ इस्वी.



Printed by
Gulabchand Lallubhai Shah
at the
Mahodaya P. Press, Bhavnagar.

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-



श्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज।

शुचि सत्य पथ से हम भटक गिरने लगे अघ-कूप में।
प्रकटी दयामय की दया 'राजेन्द्र' के तव रूप में ॥

श्रीमद्-राजेन्द्रसूरि, पृ. ४२





निवेदन।

प्रस्तुत पुस्तक 'श्रीमद्-राजेन्द्रसूरि' नामक पाठक, पाठिकाओं के कर-कमल में सस्नेह देकर आज मैं कुछ सन्तोष मान रहा हूं। लुप्तप्राय त्रिस्तुतिक सिद्धान्त के उद्धारकर्त्ता प्रातः-स्मरणीय पूज्यपाद श्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज से जैन-जगत भलि भाँति परिचित है, फिर उनके विषय में यहाँ कुछ कहना मानो! सूर्य को दीपक बतलाना है। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं महापुरुष की हिन्दी पद्यबद्ध जीविनी है।

इसके लिखे जाने की इधर कोई सम्भावना नहीं थी। परन्तु पुण्य का उदय कहिये, या होनेवाली बात। विगत ग्रीष्मान्त में उक्त महापुरुष के योग्य शिष्य महोपाध्याय श्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज का, श्रीविद्याविजयजी, सागरानन्दविजयजी आदि सुशिष्यों के सहित कुक्षी में पदार्पण हुआ और संयोगवश आपका चतुर्मास भी कुक्षी में हुआ। आप बड़े विद्याव्यसनी समयज्ञ महापुरुष हैं। चतुर्मास में प्रसङ्ग वश आपने गुरुवर्य श्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का पद्यात्मक जीवन-, चरित्र लिखने का मुझे आदेश दिया। महोपाध्यायश्री का अपने गुरु के प्रति उत्कट प्रेम देख कर मैं प्रभावान्वित हुए विना नहीं

रह सका। परन्तु अपनी क्षुद्र-बुद्धि को देख कर कवि तुलसीदास की यह चौपाई याद आगई--

करन चहो रघुपति गुन गाहा,
लघुमति मोर चरित अवगाहा ।

× × × ×

कहँ रघुपति के चरित अपारा,
कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥

कहाँ तो उक्त पूज्यपाद की अपार महत्ता, और कहाँ मेरी क्षुद्रबुद्धि ?, बड़ा असमंजस हुआ । परन्तु अन्त में यही सोच कर कि गुरुभक्ति का कार्य होने से यथाशक्ति मुनिप्रवर का आदेश पालन करना ही ठीक है, मैंने इस पुस्तक के रचने का संकल्प किया । अब यह विचार उठने लगा कि पुस्तक किस छन्द में तैयार की जाय ?, अन्त में यही निर्णय हुआ कि इसके लिये 'हरिगीतछन्द' ही अत्युपयोगी होगा । कारण वही आज-कल अधिक प्रचलित है और पढ़ने तथा गानेवालों के लिये समान रूप से उपयोग में आ सकता है, अस्तु । भाद्रवासुदि ८ से इसकी रचना आरम्भ की और लगभग तीन महीने में इसे समाप्त कर दी । तीन महीने निसन्देह ज्यादा लगे, परन्तु क्या किया जाय ?, अन्य कार्य वश मैं २-३ घंटे रोज़ से अधिक काम नहीं कर सकता था, बीच में कुछ दिन काम रुका भी रहा । रचना काल में महोपाध्यायजी महाराज की सम्मतियाँ और मेरे

ज्येष्ठ-भ्राता वकील श्रीबाबूलालजी का समय समय पर प्रोत्साहन मिलता रहने से मुझे बहुत साहाय्य मिला है।

अब रह गई पुस्तक विषयक बात। उसके लिये मेरा इतना ही कहना है कि-' कवित विवेक एक नहीं मोरे, सत्य कहूं लखि कागज कोरे ' इसका निर्णय विज्ञ पाठकों के हाथ में है। इस पुस्तक में कहीं कहीं लम्बे नोट भी हैं, परन्तु वे पाठकों की जानकारी के लिये ही रक्खे गये हैं।

इस पुस्तक की ऐतिहासिक सामग्री महोपाध्यायजी महाराज से और उनकी रचित ' राजेन्द्रसूरीश्वरजीवनप्रभा ' तथा ' राजेन्द्रसूरिजीवनी-संस्कृतगद्यबद्ध ' आदि पुस्तकों से ली गई है, इसके लिये मैं उनका विशेष उपकृत हूँ। इस ऐतिहासिक हिन्दीपद्यात्मक पुस्तक का समर्पण व्याख्यानवाचस्पति-महोपाध्याय मुनिराज श्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज के ही कर-कमल में किया गया है। प्रसन्नता की बात है कि आपने इसे सस्नेह स्वीकार भी कर लिया है।

कुक्षी, सं० १९९३
पोषसुदि ७

सेवक-
मिश्रीलाल ओंकारजी जैन।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–वंशपरम्परा ।



शासनपति–श्रीमहावीरस्वामीजी ।

१ श्री सुधर्मस्वामीजी
२ ,, जम्बूस्वामीजी
३ ,, प्रभवस्वामीजी
४ ,, शय्यम्भवस्वामीजी
५ ,, यशोभद्रसूरिजी
६ { श्रीसम्भूतिविजयजी / श्रीभद्रबाहुस्वामीजी }
७ श्रीस्थूलिभद्रसूरिजी
८ { श्रीआर्यमहागिरिजी / श्रीआर्यसुहस्तिसूरिजी }
९ { श्रीसुप्रतिबद्धसूरिजी / श्रीसुस्थितसूरिजी }
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरिजी
११ ,, दिन्नसूरिजी
१२ श्री सिंहगिरिसूरिजी
१३ ,, वज्रस्वामीजी
१४ ,, वज्रसेनसूरिजी
१५ ,, चन्द्रसूरिजी
१६ ,, सामन्तभद्रसूरिजी
१७ ,, वृद्धदेवसूरिजी
१८ ,, प्रद्योतनसूरिजी
१९ ,, मानदेवसूरिजी
२० ,, मानतुङ्गसूरिजी
२१ ,, वीरसूरिजी
२२ ,, जयदेवसूरिजी
२३ ,, देवानन्दसूरिजी
२४ ,, विक्रमसूरिजी

---

१ सरस्वती, लक्ष्मी, पद्मा, जया, विजया और अपराजिता ये छः देवियाँ हरवक्त आपको साहाय्य देती थीं और तक्षशिला (गजनी) में उत्पन्न हुए महामारी रोग के निवारणार्थ आपने नाडोल (गोड़वाड़) में रह कर **लघुशान्तिस्तोत्र** बनाया था ।

२५ श्री नरसिंहसूरिजी
२६ ,, समुद्रसूरिजी
२७ ,, मानदेवसूरिजी
२८ ,, विबुधप्रभसूरिजी
२९ ,, जयानन्दसूरिजी
३० ,, रविप्रभसूरिजी
३१ ,, यशोदेवसूरिजी
३२ ,, प्रद्युम्नसूरिजी
३३ ,, मानदेवसूरिजी
३४ ,, विमलचन्द्रसूरिजी
३५ ,, उद्योतनसूरिजी
३६ ,, सर्वदेवसूरिजी
३७ ,, देवसूरिजी
३८ ,, सर्वदेवसूरिजी
३९ } श्रीयशोभद्रसूरिजी
श्रीनेमिचन्द्रसूरिजी
४० ,, मुनिचन्द्रसूरिजी
४१ ,, अजितदेवसूरिजी
४२ ,, विजयसिंहसूरिजी
४३ } श्री सोमप्रभसूरिजी
श्रीमणिरत्नसूरिजी
४४ ,, जगच्चन्द्रसूरिजी
४५ } श्रीदेवेन्द्रसूरिजी
श्रीविद्यानन्दसूरिजी
४६ ,, धर्मघोषसूरिजी
४७ ,, सोमप्रभसूरिजी
४८ ,, सोमतिलकसूरिजी
४९ ,, देवसुन्दरसूरिजी
५० ,, सोमसुन्दरसूरिजी

---

१ ये आचार्य हरिभद्रसूरि के मित्र थे। इन्होंने गिरनार पर्वत पर घोर तपस्या करके अम्बिकादेवी की सहायता से विस्मरण हुए सूरिमन्त्र को प्राप्त किया था। २ ये आचार्य 'उपधानवाच्य' ग्रन्थ के कर्त्ता समझना चाहियें। ३ विक्रम सं० १०१० में हुए हैं, इन्होंने 'रामसैन्यपुर' में श्रीऋषभदेवस्वामी के सौधशिखरी-मन्दिर में श्रीचन्द्रप्रभस्वामी की प्रतिष्ठा की थी और चन्द्रावती में कुंकणमन्त्री को प्रतिबोध देकर दीक्षा दी थी। ये श्रीगौतमस्वामी के समान सुशिष्य लब्धि सम्पन्न थे। ४ ये आचार्य आर्बुदाचल के समीप 'टेलड़ी' गाँव में यशोभद्र, नेमिचन्द्र आदि आठ मुनिवरों को आचार्यपद देनेवाले जानना चाहिये।

५१ श्री मुनिसुन्दरसूरिजी
५२ ,, रत्नशेखरसूरिजी
५३ ,, लक्ष्मीसागरसूरिजी
५४ ,, सुमतिसाधुसूरिजी
५५ ,, हेमविमलसूरिजी
५६ ,, आनन्दविमलसूरिजी
५७ ,, विजयदानसूरिजी
५८ ,, विजयहीरसूरिजी
५९ ,, विजयसेनसूरिजी
६० ,, विजयदेवसूरिजी
६१ श्री विजयसिंहसूरिजी
६२ ,, विजयप्रभसूरिजी
६३ ,, विजयरत्नसूरिजी
६४ ,, विजयवृद्धक्षमासूरिजी
६५ ,, विजयदेवेन्द्रसूरिजी
६६ ,, विजयकल्याणसूरिजी
६७ ,, विजयप्रमोदसूरिजी
६८ ,, विजयराजेन्द्रसूरिजी
६९ ,, विजयधनचन्द्रसूरिजी
७० ,, विजयभूपेन्द्रसूरिजी[1]



१ आपका जीवन जानने के लिये देखो मुनिश्रीविद्याविजयजी रचित 'श्रीभूपेन्द्रसूरि' नामक गीतिका छन्दोवद्ध पुस्तक, जो श्रीराजेन्द्रप्रवचन कार्यालय मु० खुडाला, पो० फालना (मारवाड़) के पते पोस्टखर्च भेजने पर भेट मिलती है।

व्याख्यानवाचस्पति-महोपाध्याय-



मुनिराज-श्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज।

समर्पण

गुरुदेव! श्रीराजेन्द्र पर अति आपकी अनुरक्ति थी।
पर साथ ही अति आपकी उन पर विमल गुरुभक्ति थी॥
अतएव अर्पण आपको उनका चरित है, लीजिये।
अनुचित न हो, स्वीकार कर कृतकृत्य मुझको कीजिये॥

अनुचर—मिश्रीलाल जैन।

विषयानुक्रमः ।

हिन्दी-पद्यात्मक विभाग १ लो.

चिता श्रीयुत वकील मिश्रीलालजैन को हम शतशः धन्यवाद देते हैं और वे हमेशां अपने इस कार्यक्षेत्र में सफलमनोरथ हों ऐसा शुभाशीर्वाद भी समर्पण करते हैं।

मु० कुकशी (धार) } व्याख्यानवाचस्पति-महोपाध्याय-
ता० १५-२-३७ } मुनिश्रीयतीन्द्रविजय।

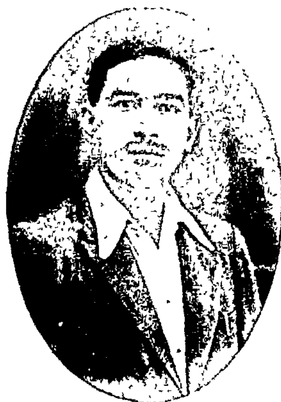
२ 'श्रीमद्-राजेन्द्रसूरि' नामक आपकी हिन्दीपद्यात्मक पुस्तक बड़ी सुरोचक शिक्षाप्रद, और क्रान्तिकारक है। हमने आज तक अनेक पद्यात्मक पुस्तकें पढ़ीं, परन्तु हमें जो आनन्द उक्त पुस्तक के पढ़ने में आया, वह लेखिनी से परे है। जैनजगत में क्या, हिन्दी जगत में भी ऐसी निर्दोष कविताओं की बड़ी भारी त्रुटि थी, उसको आपकी पुस्तक पूर्ण करती है। इस महान् परिश्रम के लिये आप धन्यवादार्ह हैं। आपका यह कार्य क्षेत्र सदा समुन्नत बना रहे, यही गुरुदेव से प्रार्थना है।

मु० जावरा (मालवा) } श्रीराजेन्द्रोदयजैनयुवकमण्डल।
ता० ५-३-३७ }

३ 'श्रीमद्-राजेन्द्रसूरि' किताब का बहिरङ्ग दिलचस्प सुन्दरताओं, तथा अन्तरङ्ग अनेक समादरणीय सूक्तालङ्कारों से विभूषित है। हरएक पद्यों में सरलता, माधूर्य, सरसता और अर्थसुलभता विद्यमान है, जो कविताओं

' श्रीमद्-राजेन्द्रसूरि ' के लेखक—

मिश्रीलाल जैन ।



" यही भावना है प्रबल, मनके मिटें प्रमाद ।
नित्य सुखद मिलता रहे, गुरुजन आशीर्वाद ॥ "

में होना आवश्यक है। किताब को आद्योपान्त देखने से मालूम पड़ता है कि इसका निर्माता अपने कृति-कार्य में सफल-मनोरथ है। श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की गद्य-पद्यमय आज तक अनेक जीवनियाँ उपलब्ध हैं, परन्तु कविने उनके जीवन प्रसङ्ग की जो मार्के की बातें इसमें रक्खी तथा जिस खूबी से लिखी हैं, वे उनमें नहीं पाई जातीं। कविता और भाव दोनों दृष्टि से यह किताब प्रशंसनीय, मननीय तथा सुरक्षणीय है।

खुडाला (मारवाड़)
ता० १३-२-३७ } श्रीराजेन्द्रप्रवचनकार्यालय।

४ ....यह श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की हिन्दी-पद्यमय जीवनी है, जो बड़ी रोचक एवं अति सुन्दर है। इसमें कविवरने स्थान स्थान पर अनेक शिक्षाएँ ठोंस ठोंस करके भरी हैं, जिन्हें मनन करने और कार्यरूप में परिणत करने से मनुष्य मनुष्य बन जाता है। इस अगाध परीश्रम और गुरुभक्ति के लिये श्रीयुत मिश्रीलालजी वकील को शतशः हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

त्रिचीनोपोली (मद्रास)
ता० ५-८-३७ } पोरवाड़जैन के० वरदीचन्द।

५ यह हिन्दी पद्यमय जीवनी बड़ी सुन्दर, सरस, सुरोचक और शिक्षाप्रद है। इसमें जगह जगह पर सूक्तालङ्कारों

में माधुर्य और अर्थसौष्ठव ओत-प्रोत है। श्वेताम्बर जैन-समाज में ऐसे हिन्दी पद्यात्मक ग्रन्थों की भारी आवश्यकता थी, उसको इसने प्रायः पूर्ण की है। निर्माता को इसके लीये धन्यवाद है।

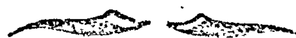
मु० आहोर (मारवाड़)
ता० २०-४-३७

श्रीगोड़ीपार्श्व-राजेन्द्र-जैनयुवकमण्डल।

६ 'श्रीमद्-राजेन्द्रसूरि' पुस्तकआद्योपान्त पढ़ी, बड़ा आनन्द हुआ। जैनसमाज में इस विषय की यह एक ही पुस्तक है। श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की और भी जीवनियाँ उपलब्ध हैं, परन्तु इसमें उनसे निरालापन है। पुस्तक में जो उपदेशपूर्ण शिक्षाएँ आई हैं, वे गृहस्थ और साधु दोनों के मननीय वस्तु है। यदि इसके उपदेशों पर विचार किया जाय तो पाठकों के सदाचार में विशेष रूप से अभिवृद्धि हो सकती है।

मु० रतलाम (मालवा)
ता० २२-४-३७

कवि-मन्नालाल चोपड़ा



प्रभु श्रीमद्-विजय राजेन्द्रसूरीश्वरेभ्यो नमः

श्रीमद्-राजेन्द्रसूरि

(हिन्दी-पद्यात्मक)

१ मङ्गलाचरण— (१)

श्री[1] श्रेयप्रद[2] अज्ञान-तम करता सहज जो नाश है।
शाश्वत[3] अचिन्त्य[4] पुनीत-वर सब विश्व का विश्वास है॥
जो सब गुणों का है सदन शुभ शान्ति-धाम ललाम है।
उस वर्द्धमान[5] जिनेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है॥

२ उपक्रम— (२)

दुर्भाग्य-वश जब जब हमारे हानि होती धर्म की।
जब वृद्धि होती है यहाँ अविचार-मय दुष्कर्म की॥

१ लक्ष्मी। २ मोक्षदाता। ३ सदा रहने वाला। ४ विचार से परे। ५ श्रीमहावीरस्वामी।

होते पतित सब भाँति हम, स्वच्छन्दता[1] बढ़ती जहाँ।
आदर्श दिव्य विभूति[2] कोई जन्म लेती तब यहाँ॥

(३)

वह छोड़ जग के सुख सकल अपने अलौकिक[3] त्याग से।
दृढ़ चित्त रह सद्धर्म पर, समदृष्टि-युत अनुराग से॥
सद् ज्ञान से सत्पथ दिखा सब अन्त कर अघ-शोक का।
कटिबद्ध रह आजन्म वह कल्याण करती लोक का॥

(४)

इस नीति पर ही निन्द्य शिथिलाचार जब हम में बढ़ा।
पावन परम जिनधर्म पर मिथ्यात्व[4] का परदा चढ़ा॥
शुचि सत्य पथ से हम भटक गिरने लगे अघ-कूप में।
प्रकटी दयामय की दया राजेन्द्र[5] के तब रूप में॥

(५)

आजन्म रह कर ब्रह्मचारी निज कठिन तप त्याग से।
निज त्याग कर सम्बन्ध जग के राग और विराग से॥
देखे गये ये नित निरत जग-जीव के उद्धार में।
उपकारियों का बीतता जीवन सभी उपकार में॥

---

१ स्वेच्छाचारिता। २ आत्मा। ३ विलक्षण, असाधारण। ४ असत्यता, ढोंग। ५ श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वर।

(६)

देखा बढ़ा जिनधर्म में आगमें विरुद्धाचार को।
तब बद्ध परिकर आप उसके हित हुए उद्धार को॥
सम्पूर्ण धर्माभास तज यह जान सब सम्भ्रान्त है।
फिर आपने फैला दिया शुचि वीर का सिद्धान्त है॥

(७)

म्रियमाण थी जो जैन-जनता अज्ञता के क्लेश से।
फिर स्वस्थ उसको कर दिया अपने अमिय उपदेश से॥
सब हो गये निर्मल पुनः अघ-पङ्क में जो थे भरे।
जो काँच थे सहसा बने अनमोल वे हीरे खरे॥

(८)

हम आज इनका ही चरित कहने चले हैं कुछ यहाँ।
कहना न यश उपकारियों का पाप है होता महा॥
निज पूर्वजों के कीर्त्ति-वर्णन में जिसे वैराग्य है।
उस जाति का संसार में सब से बड़ा दुर्भाग्य है॥

(९)

पर्द् शत्रुओं को जीत कर रह लीन नित भगवान में।
लोकोपकारी कार्य को रखते हुए निज ध्यान में॥

---

१ शास्त्र। २ धर्म का मिथ्या ज्ञान। ३ भ्रान्ति से भरा। ४ मरी हुईसी। ५ अमृत। ६ पापरूपी कीचड़। ७ उदासीनता। ८ काम, क्रोध, मान, कपट, लोभ और मोह।

श्रीसूरिवरराजेन्द्र का यह शुभ चरित जो गायँगे।
होगी सुलभ सब सिद्धि[1] उनके पाप-दल कट जायँगे॥

(१०)

जिस शुभ कथा का अब हमारी है यहाँ वर्णन चला।
था ताप[2]-वसु-वसु-इन्दु तब अति विक्रमी संवत् भला॥
बीता समय उसको न अति वह सब अभी की बात है।
अविरुद्ध गति से काल पर जाता सदा दिन रात है॥

२ जन्म और शिक्षा—(११)

है पुण्य भारत में भरतपुर[3] नामकी नगरी बड़ी।
थी मुक्त[4] करती नृत्य जिसमें मत्त पद्मा[5] हरघड़ी॥
थे प्राप्त सुख जग के सभी बहता वहाँ रस-रङ्ग था।
अवलोक वैभव भव्य उसका इन्द्रपुर[6] भी दङ्ग था॥

(१२)

श्रीओसवंशी[7] ऋषभ[8] नामक गोत्र पारख में महा।
निज काल यापन कर रहे थे एक श्रावकवर वहाँ॥

---

१ अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। २ सं १८८३ पोषसुदि ७ गुरुवार। ३ अछनेरारेलवे स्टेशन से १७ मील और आगरा किले से ३४ मील पश्चिम राजपुताना में एक देशी रियासत। ४ स्वच्छन्द। ५ लक्ष्मी। ६ अमरावती। ७ ओसवालवंश में। ८ ऋषभदास।

थी केशरी के नामकी सहधर्मिणी उनकी तथा।
वामा सुलभ सब सद्-गुणों में थी निपुण वह सर्वथा॥

(१३)

उन श्रेष्ठ दम्पति में सदा अविच्छिन्न रहती प्रीति थी।
संसार के व्यवहार में छल हीन उनकी नीति थी॥
अपने नियम व्रत पालते रखते विमल अति ज्ञान थे।
निज देव गुरु में, धर्म में अति उच्च श्रद्धावान थे॥

(१४)

स्वर्गीय सुख का भोग वे करते समुद सब काल थे।
जाते नहीं उनके निकट दुख विश्व के विकराल थे॥
गार्हस्थ्य[1] सुख-प्रद है उसी का जन्म जग में धन्य है।
सुख शान्ति जिस घर में नहीं वह नरक सदृश जघन्य[2] है॥

(१५)

पर देव-दुर्लभ सुख वही अब स्वप्न की सब बात है।
गार्हस्थ्य-विग्रह अब हमारा विश्व में विख्यात है॥
हा हा! इसी कारण हमारी भग रही सब सिद्धियाँ।
सौहार्द, प्रेम, मतैक्य, में ही वास करती रिद्धियाँ॥

(१६)

अपने प्रबलतर कर्म से अति पुण्य योग अनूप में।
पाई उन्होंने शक्ति यह अद्भुत सुखद सुत रूप में॥

---

१ गृहस्थाश्रम। २ अधम, नीच।

उमड़ा विपुल सुख-स्रोत तब उनके समुन्नत धाम से।
होते न हर्षित कौन पा कर पुत्र-रत्न ललाम से ? ॥

(१७)

विधियुक्त इनका नाम शुभ तब रत्नराज धरा गया।
देखा गया बढ़ना कलासा[1] नित्य ही इनमें नया ॥
रहने लगा मन मुग्ध इन पर पर[2] तथा परिवार का।
शुभ वस्तु से सब प्रेम करते, है नियम संसार का ॥

(१८)

होती यहाँ जिस भाँति माता अज्ञ या सज्ञान है।
सन्तान भी तद्वत् सदा होती निकृष्ट, महान है॥
अति पण्डिता थी जननि इनकी सर्व सद्गुण संयुता।
निज जननि के अनुरूप ही पाई इन्होंने योग्यता॥

(१९)

अपनी वयस[3] के साथ फिर शिक्षा ग्रहण करने लगे।
अद्भुत नवीन विचार अपने चित्त में भरने लगे॥
कुछ काल में यों प्राप्त कर शिक्षा सभी व्यवहार की।
करने लगे फिर नीति अनुभव इस कुटिल संसार की॥

---

१ चन्द्रकला के समान। २ अन्य लोग। ३ अवस्था।

४ कुटुम्बप्रेम— (२०)

प्रेमा[1] बहिन लघु[2] एक इनकी, बन्धु माणिक[3] ज्येष्ठ थे।
सौन्दर्य सद्गुण आदि भी उनमें भरे शुचि श्रेष्ठ थे॥
थे एक के दुख में दुखी सुख में सभी सुख जानते।
सेवा सदा करना बड़ों की धर्म थे निज मानते॥

५ पूर्वजमहिमा— (२१)

वे पूर्वजों के गुण कहो क्या दीखते हम में अभी?।
निज वृद्ध जन का आज हम आदर कहो करते सभी?॥
अतएव जग लखता उन्हें सम्मान की था दृष्टि से।
होती उपेक्षा है हमारी आज सारी सृष्टि से॥

६ तीर्थाटन— (२२)

निज बन्धु के फिर साथ में ये तीर्थ[4] करने को चले।
लोकोपकारी कार्य[5] भी करते रहे पथ में भले॥
करते हुए यों तीर्थ दर्शन हो सफल निज काम में।
सक्षेम दोनों बन्धु अपने आ गये फिर धाम में॥

---

१ प्रेमाबाई। २ छोटी। ३ माणिकचन्द्र। ४ केशरियाजी, देलवाड़ा, करेड़ा, गोड़वाड़ और आबू की पञ्चतीर्थी। ५ अम्बरनिवासी सेठ सौभाग्यमलजी को चोरों के उपद्रव से बचाना, तथा उनकी पुत्री रमादेवी को कठिन रोग से मुक्त करना आदि।

७ व्यवसाय— (२३)

कुछ काल के उपरान्त ही फिर लग गये व्यवसाय में ।
करने लगे ये यत्न नित अभिवृद्धि का निज आय में ॥
इस अर्थ के ही अर्थ ये फिर पर्यटन करने झुके ।
बङ्गाल क्या सीलोन[1] तक भी ये न जाने से रुके ॥

(२४)

इस दीर्घ यात्रा में इन्हें पद पद विपद सहना पड़ी ।
लड़ते हुए ये विघ्न से थे काम करते हर घड़ी ॥
इस भाँति लेते बेचते पथ में अनेक पदार्थ को ।
फिर लौट आये शीघ्र ही कर सिद्ध अपने स्वार्थ को ॥

(२५)

"सिद्धान्त है यश प्राप्त करता है वही व्यापार में ।
धृति-युक्त[3] जो उद्यम निरत रहता कुशल[4] व्यवहार में ॥
इसमें न है जो दक्ष रखता व्यर्थ का अभिमान है ।
वह कर नहीं सकता कभी इसका मधुर रसपान है ॥"

८ पर्यटन— (२६)

"निज अभ्युदय[1] का पर्यटन भी एक अनुपम ढङ्ग है ।
अच्छे बुरे मिलते मनुज, दिखता सभी का रङ्ग है ॥

---

१ उन्नति । २ लङ्का । ३ धैर्य सहित । ४ चतुर ।

होता कहाँ पर क्या अभी रहता सभी यह ध्यान में।
परदेश फिरने से सदा अभिवृद्धि होती ज्ञान में॥"

९ माता-पिता का वियोग— (२७)

माता पिताने उस समय सानन्द अवलोका इन्हें।
भावी[1] भ्रमण के अर्थ फिर अति प्रेम से रोका इन्हें॥
वृद्धत्व[2] से आक्रान्त थे वे, घट रही सब शक्ति थी।
अब आ गया अन्तिम समय यह हो रही अभिव्यक्ति[3] थी॥

(२८)

निज कार्य से तब हो विमुख, अपने उसी आवास[4] में।
करने लगे सेवा श्रवणसी[5] रह उन्हीं के पास में॥
वे भी सदा रखते इन्हीं पर प्रेम-भाव विशेष थे।
अतएव कह अनुभव उचित, देते नये उपदेश थे॥

---

१ आगामी। ५ बुढ़ापा। ३ मालूम होना। ४ घर।
५ यह रामायण प्रसिद्ध तपस्वी-पुत्र है। इसके माता पिता अन्धे थे। उन्हें इसने कावड़ में बिठा, अपने कंधों पर उठा, और उनकी इच्छानुसार तीर्थयात्रा कराई। अन्त में माता पिता की सेवा करते हुए ही, इसने राजा दशरथ के बाण के आघात से अपने प्राण विसर्जन किये।

(२९)

इस भाँति रह कुछ काल वे फिर चल दिये परधाम को।
करता सदा रहता नियम से काल अपने काम को॥
देखे गये तब ये निरत सब से अधिक इस शोक में।
माता पितासी और दुर्लभ वस्तु है क्या लोक में?॥

१० मोहभङ्ग— (३०)

यह मोह माया से भरा संसार है मिथ्या सभी।
जो जन्म लेता, मृत्यु से वह बच नहीं सकता कभी॥
है मुक्त बस इससे वही वैराग्य पर जो डट गया।
यह सोचने के साथ ही फिर शोक इनका हट गया॥

(३१)

रहने लगा अब चित्त इनका विरत[1] एक प्रकार से।
घटने लगा सम्बन्ध सब सहसा क्षणिक संसार से॥
अति उच्चतम सत सङ्ग में बहुधा निरत[2] रहने लगे।
ध्रुव[3] धर्म की द्रुत[4] धार में अति वेग से बहने लगे॥

११ आचार्य-आगमन—(३२)

जब भाग्य का होता उदय होते सुलभ[5] सब योग हैं।
देखे गये जाते हुए रज[6] मात्र से गुरु[7] रोग हैं॥

---

१ उदासीन, अलग। २ लगा हुआ। ३ सनातन, पुराना। ४ तेज़। ५ प्राप्त। ६ धूल। ७ भारी।

(३३)

वे थे कुशल उपदेश में अति साथ ही विद्वान थे।
अपने विमल जिनधर्म का रखते अलौकिक ज्ञान थे॥
अतएव उनके आगमन से थे मुदित[1] छोटे बड़े।
जिसने जहाँ उनका सुना वे वन्दना[2] को चल पड़े॥

(३४)

व्याख्यान फिर उनके वहाँ नवैं[3]-नव सदा होने लगे।
श्रोता विलक्षण युक्ति से संशय सभी खोने लगे॥
उस बोध के आलोक से अज्ञान-तम भगने लगा।
अति मोह-निद्रा में पड़ा सद्भाव[4] फिर जगने लगा॥

१२ सत्समागम- (३५)

"सत् सङ्ग से जगता कहो! किसका न मानस[5] दीप है?।
मोती परम अनमोल देती स्वाति जल से सीप है॥
लघुधातु अति लोहा कि, जिसका निन्द्य कलुपित वर्ण है।
पा योग पारस का वही बनता मनोहर स्वर्ण है॥"

(३६)

नित धर्म-चर्चा युत वहाँ रहता अमित[6] उत्साह था।
थे एक मन सब, आजसौं[7] उनमें न ईर्षा दाह था॥

---

१ खुशी, आनन्दित। २ नमस्कार करने के लिये। ३ नये-नये। ४ उत्तम विचार। ५ हृदय। ६ अधिक। ७ आधुनिक समय के समान।

वे सब इसी कारण यहाँ रहते रहे सुख लूट के।
हम फूट ही के पाप से अब रो रहे हैं फूट के॥

१३ आचार्योपदेश— (३७)

जिसकी लगी हो चित्त में वह वस्तु ही सहसा मिले।
होगी न रुचिकर वह किसे फिर क्यों न मनकलिका खिले॥
कहना न होगा, रत्न भी जाते वहाँ थे नित अहा!।
संयोगवश यतिवर्यने तब एक दिन उसमें[2] कहा॥

(३८)

"हे प्राणियों! मृगजल सदृश संसार यह दुख मूल है।
जो सौख्य दुख को मानते यह क्या न उनकी भूल है?॥
माता पिता दारा[3] तनय[4], जो दीखते जितने अभी।
कुछ सोच कर देखो, मिलेंगे स्वार्थ मूलक वे सभी॥"

(३९)

"आते अकेले हैं यहाँ निज कर्म के सब योग से।
जाते पुनः तद्वत् सभी हो जर्जरित दुख–रोग से॥
साथी न कोई है किसीका बात यह विख्यात है।
यह देह तक अपनी नहीं तब और की क्या बात है?॥"

---

१ चिल्ला-चिल्ला कर। २ उपदेश में। ३ स्त्री। ४ लड़का।

(४०)

"धन जन सबल[1] यौवन सहित जो दीखते सद्-गात्र[2] हैं।
रहते न कोई के निकट, ये सब धरोहर मात्र हैं॥
सुख से जिसे हम आज करते देखते परिहास हैं।
बनते अचानक हा! वही कल मृत्यु के मृदु ग्रास[3] हैं॥"

(४१)

"हम देखते सुनते सदा सब के उदय अवसान[4] को।
दुर्बुद्धिवश तजते न पर मिथ्यात्वमय अभिमान को॥
नर-देह पाकर भी न हमने धर्म-पद धारा नहीं।
तो पा सकेंगे हम कहो अन्यत्र निस्तारा कहीं?॥"

(४२)

"शाश्वत विशद ऐश्वर्य से यह धर्म ही बस युक्त है।
संसार के दृढ़ बन्धनों से धर्म करता मुक्त है॥
बस मेटता है धर्म ही आवागमन संसार का।
है मार्ग निष्कण्टक यही जग जीव के उद्धार का॥"

(४३)

"सुररत्न[5] सम सद्धर्म का जिसने सुखद आश्रय लिया।
संसार में जीवन उसीने धन्य है अपना किया॥

---

१ बलयुक्त। २ सुन्दर शरीर। ३ कवल।
४ अन्त। ५ चिन्तामणिरत्न।

जो सत्यवस्तु[1] अभीष्ट हो, मत पाप का लालन करो।
चारित्र, दर्शन, ज्ञान युत, सद्धर्म का पालन करो ॥"

१४ वैराग्य-जागृति— (४४)

यह श्रवण कर उपदेश इन पर रंग कुछ ऐसा चढ़ा।
जो था रुका वैराग्य मन में, एक दम आगे बढ़ा॥
निज सोच कर मन में सभी जग की क्षणिकता[2] जान ली॥
वैराग्य लेने के लिये फिर शीघ्र मन में ठान ली॥

१५ भाई से आज्ञा लेना—(४५)

शुभ कार्य के आरम्भ में यह नीति-तत्त्व मनोज्ञ[3] है।
आज्ञा बड़ों की सर्वदा लेना उचित है योग्य है।
करते अवज्ञा जो बड़ों की बुद्धि के अभिमान में।
कृतकार्य वे होते नहीं निज स्वार्थ-सिद्धि महान में॥

(४६)

अतएव कह कर सब इन्होंने निज मनोगत भाव को।
निज बन्धु सम्मुख रख दिया वैराग्य के प्रस्ताव को॥
सहसा कथन इनका श्रवण कर बन्धु दुख सहने लगे।
अति-वाष्प गद्-गद् कण्ठ से इस भाँति फिर कहने लगे॥

---

१ चरमसुख, कैवल्यपद। २ क्षणभङ्गुरता।
३ सुन्दर।

१६ भाई का प्रबोध—(४७)

" हे बन्धुवर ! ऊँचे तुम्हारे भाव हैं सब सर्वथा ।
फिर भी कथा सुन कर तुम्हारी हो रही मुझ को व्यथा ॥
केन्द्रस्थ सब तुम में अहो ! मेरा विपुल संसार है ।
पर हाय तुम मुझ को तजो, कैसा निकृष्ट विचार है ? ॥ "

(४८)

" क्या कष्ट है तुमको यहाँ यह तो कहो मुझ से जरा ? ॥
प्रस्ताव क्यों तुमने किया मुझ से अहो ! यह दुख भरा ? ॥
घर बार यह सब हैं तुम्हारे, फिर कहो क्या शोक है ? ।
खाओ, पीओ आनन्द से तुमको न इसकी रोक है ॥ "

(४९)

" माता पिता का शोक तो अब तक नहीं मन से गया ।
करने चले हो तुम उपस्थित और उस पर दुख नया ॥
है चोट पर यह चोट, हम क्या सब सहन कर जायँगे ? ।
क्या हम न घुल घुल कर इसी सन्ताप में मर जायँगे ? ॥ "

(५०)

" स्वच्छन्द तो तुम थे नहीं फिर क्या हुआ सहसा अभी ? ।
निज कर्म तक जिससे अहो ! तुम भूल बैठे हो सभी ॥

---

१ सीमित । २ बुरा, हलका ।

सोचो, विचारो इस समय यह कर्म तुम को योग्य है ? ।
हे बन्धुवर! तुमको उचित गार्हस्थ्य सुख ही भोग्य है ॥"

(५१)

"गार्हस्थ्य-व्रत पालन सदृश क्या और जग में धर्म हैं ? ।
आधार है उनका यही जितने यहाँ सत्कर्म हैं ॥
जिस वीर में इस धर्म की अति नीति पूर्वक व्याप्ति[1] है ।
बस, सहज ही होती उसे चारों फलों की प्राप्ति है ॥"

(५२)

"क्या वय तुम्हारा है अभी कितना तुम्हारा ज्ञान है ? ।
चारित्र लेना भी लिया क्या खेल तुमने मान है ? ॥
उस पर चलोगे तुम अहो ! जो खड्ग[2] की खर धार है ? ॥
अति ज्ञानियों का ज्ञान भी आ कर यहाँ लाचार है ॥"

(५३)

"चारित्र ही लेना तुम्हें है और भी इस पर कमी ।
चिन्ता कहो क्या आज उसकी, शेष है जीवन सभी ?"
वह भी समय आ जायगा तुम आज ही क्यों व्यग्र[3] हो ? ।
लगती समय से पूर्व की क्या बात है अच्छी कहो ? ॥"

---

१ व्यापकता । २ तलवार । ३ चिन्तित, दुःखी ।

१७ रत्नराज का उत्तर—(५४)

निज ज्येष्ठ भ्राताने कहा जो प्रीति अथवा नीति से।
सुनते रहे आद्यन्त सादर वे उसे अति प्रीति से॥
वात्सल्य के सञ्चार से फिर भर गया इनका हिया।
पर धैर्य धर कर नम्रता युत इस तरह उत्तर दिया॥

(५५)

"हे भ्रात! मुझ पर आपकी निश्छल अति अनुरक्ति है।
पर साथ ही मेरे हृदय में आपकी अति भक्ति है॥
माता पिता जो कुछ कहो मेरे सभी अब आप हो।
फिर है उचित ही इस तरह जो आपको सन्ताप हो॥"

(५६)

"यद्यपि उचित है बात वह जो आपने मुझ से कही।
पर क्या करूं मेरी तनिक श्रद्धा न इस जग पर रही॥
है कौन ऐसी वस्तु वह जो है चिरस्थायी यहाँ?।
संसार के बन्धन सभी क्या हैं न दुखदायी महा?॥"

(५७)

"दुख शोक व्याधि जरा मरण से, देह यह संयुक्त है।
फिर क्या उचित हमको कहो उनसे न होना मुक्त है?

---

१ प्रेम। २ रत्नराज का। ३ बहुत काल रहनेवाली।

सुख मानते जग में जिसे हम सुख नहीं वह भ्रान्ति है ।
है अल्प भी उसमें मुझे दिखती न सच्ची शान्ति है ॥"

(५८)

"क्या योग्य भी शुभ कार्य में करना समय का ह्रास है ? ।
हम आज हैं पर क्या कहो कल का किसे विश्वास है ? ॥
है जन्म उसका धन्य जो जीवन सफल निज कर गया ।
धिक्कार ! जो कृमिकीटसा उत्पन्न होकर मर गया ॥"

(५९)

" षट् शत्रुओं से है कठिन बचना सदा संसार में ।
हैं ये बहा देते मनुज को पाप की खर धार में ॥
लेते न इनको जीत जो निष्कर्म[1] युत मदु-रीति से ।
वे बच नहीं सकते कभी आवागमन की भीति से ॥"

(६०)

" है इष्ट सुख मुझको वही जो नित्य और अशेष है ।
पाकर जिसे नर-जन्म का होता सफल उद्देश है ॥
अतएव मेरी प्रार्थना पर दृष्टि अपनी कीजिये ।
चारित्र पालन के लिये आज्ञा दया कर दीजिये ॥"

---

१ निरपद्य काम, पाप रहित कार्य ।

१८ भाई की आज्ञा—(६१)

अवलोक इन्हें सङ्कल्प पर दृढ़ बन्धुने सोचा तभी।
कहना हमारा व्यर्थ है अब यह न मानेंगे कभी॥
तब शोक से दृग-जल बहाते दी इन्हें आज्ञा अहो!।
लाचार होता है मनुज तब क्या नहीं करता कहो?॥

१९ दीक्षा— (६२)

जाते न लगती देर दिन दीक्षा समय भी आ गया।
था मुर्ग-गगन-निधि-इन्दु शुभ तब विक्रमी संवत नया॥
शुभ-योग में मुनिहेमने निज सूरि के आदेश से।
भूपित उदयपुर में किया इनको उचित यतिवेश से।

(६३)

कहना असम्भव उस समय की है यहाँ उत्सव कथा।
आनन्द के मद से छकी थी जैन जनता सर्वथा॥
देखा इन्हें सानन्द तब सबने श्रमण होते हुए।
परिजन सभी इनके विकल थे शोक से रोते हुए॥

(६४)

था जन्म का जो नाम इनका वह बदलना रह गया।
तब 'रत्न' के आगे 'विजय' शुभ शब्द को रक्खा गया॥

---

१ सं० १९०४ वैशाखशुदि ५ शुक्रवार। २ अच्छे मुहूर्त में। ३ राजपुताना (मेवाड़) की एक मुख्य रियासत। ४ साधु, जैनमुनि।

यों नाम परिवर्त्तन हुआ तत्काल इनका सर्वथा।
यह साधुओं में आदि ही से है चली आती प्रथा॥

२० यतिवर्ग— (६५)

यति वर्ग सारा उस समय का पूर्ण गौरव युक्त था।
था सब परिग्रह से रहित दुष्कर्म[1] से वह मुक्त था॥
था धर्म पर आरूढ़ उसका शास्त्र सम्मत काम था।
था पूज्य वह सब भाँति उसका विश्व विश्रुत नाम था॥

(६६)

पर हाय! अब दुर्भाग्य है, अथवा समय का फेर है।
देखो उसीमें आज तो सब से बड़ा अन्धेर है॥
गार्हस्थ्य से यति बढ़ गये नित पाप करते घोर हैं।
शुभ वेश में वे अब हमारे धर्म, धन के चोर हैं॥

(६७)

जिस शब्द से शुचि साधुता का बोध होता था जहाँ।
क्या अर्थ वह पाखण्ड का हा! अब नहीं देता यहाँ?॥
इस बात पर यतियो! कभी जाता तुम्हारा ध्यान है?।
होता हमारा आज तुमसे विश्व में अपमान है॥

---

१ बुरे काम।

(६८)

निजधर्म अथवा कर्म में वे सब तरह स्वतन्त्र हैं।
देखो जिधर, चलते उन्हीं के तन्त्र अथवा मन्त्र हैं॥
धनवान् ललना ललित पर करते कृपा वे व्यक्त हैं।
संसार में सब से अधिक वे आज विषयासक्त हैं॥

(६९)

कहना न यह होगा कि, हैं यति श्रेष्ठ कुछ अब भी यहाँ।
हैं किन्तु आटे में नमक-से, फिर कहो गिनती कहाँ ?॥
हे पूज्य ! अब भी आपको जो नीति-पथ स्वीकार हो।
तो डूबता बेड़ा हमारा भव-महोदधि पार हो॥"

२१ मन की अस्थिरता-(७०)

"यह चित्त है चञ्चल हमारा आज जिस पर नेह है।
कल भी रहेगा वह अटल, इसमें बड़ा सन्देह है॥
कुछ काल पहिले जो परम संसार-सुख में लीन थे।
बैठे बने वे आज सहसा योग-सर के मीन थे॥

२२ पठन-पाठन— (७१)

यति एक सागरचन्द्र नामक उस समय विख्यात थे।
विद्वान वे दुर्द्धर्ष[1] थे सब शास्त्र में निष्णात[2] थे॥

---

१ भारी। २ पारगामी।

श्रीसूरिश्रेष्ठ प्रमोद की थी मित्रता उनसे महा ।
अतएव पढ़ने के लिये भेजा गया इनको वहाँ ॥

(७२)

यतिवर्य्य दोनों के परस्पर गच्छ यद्यपि भिन्न¹ थे ।
इस बात को ले चित्त पर होते न उनके खिन्न थे ॥
लड़ते न थे वे आजकल-से² सम्प्रदाय महत्व में ।
अनुशील रहते थे सदा वे सत्व ही के तत्त्व में ॥

(७३)

निज अनवरत श्रम से हुए अति शीघ्र ही विद्वान ये ।
निज गच्छ के सिद्धान्त पर देने लगे तब ध्यान ये ॥
पर गच्छ गुरु बिन ज्ञान-रवि उगता न उर-आकाश में ।
उसके लिये भेजा इन्हें देवेन्द्रगुरु³ के पास में ॥

(७४)

हो मुग्ध इनकी भक्ति पर सद्-पात्र इनको जान के ।
समझा दिये आचार्यने झट तत्त्व सुन्दर ज्ञान के ॥
होते न किसके नम्रता से सब सफल उद्देश हैं ? ।
गुरुभक्ति से मिटते सहज जग के कठिनतर क्लेश हैं ॥

---

१ तपागच्छ और खरतरगच्छ । २ आधुनिक समय के समान । ३ तपागच्छ के ६८ वें गादीधर जिनका दूसरा नाम दिणेन्द्रसूरि भी था ।

२३ बड़ी दीक्षा–पन्यासपद–(७५)

इस भाँति विक्रम अब्द फिर उन्नीससौ नव आ गया।
पावन उदयपुर मध्य अति आनन्द सहसा छा गया॥
मुनिहमने फिर दीर्घ–दीक्षा से इन्हें दीक्षित किया।
आनन्द पूर्वक साथ में पंन्यास पद इनको दिया॥

२४ देवेन्द्रसूरि का कथन–(७६)

निज पठन पाठन हेतु ये जा कर रहे जब भी जहाँ।
अपनी अलौकिक बुद्धि से सम्मान अति पाया वहाँ॥
देवेन्द्र का भी सब तरह विश्वास नित इन पर रहा।
अतएव, अपने पास बुलवा एक दिन इनसे कहा॥

(७७)

“हे वत्स ! है अन्तिम समय, आया हमारा काल है।
अतएव कुछ कहना तुम्हें अपने हृदय का हाल है॥
धरणेन्द्र को निज पाट तो हमने दिया कर दान है।
है किन्तु, यह अप्रौढ़ अभी, संसार से अनजान है॥”

---

१ बड़ी दीक्षा, उपस्थापना। २ प्रज्ञांश, पण्डित।
३ धीरविजय जो धरणेन्द्रसूरि के नाम से तपागच्छ के ६९ वें गादीधर बनाये गये थे। ४ अज्ञ, असमझ।

(७८)

" तुम योग्य हो सब भाँति यह होगा नहीं स्वीकृत किसे ?।
अतएव, अपने योग्य ही तुम योग्य कर देना इसे ॥
हम तो चले अब सौंप कर इसको तुम्हारे हाथ में।
सब सोच पूर्वापर[1] उचित करना हमारे साथ में॥

२५ सूरि को आश्वासन-(७९)

सहसा कथन सुन उक्त, इनके नेत्र में जल भर गया।
अतिभङ्ग स्वर से फिर कहा, है नाथ की यह सब दया॥
चिन्ता न करिये आप कुछ, है काम क्या अनुताप का।
आदेश मैं पालन करूंगा अक्षरशः आपका॥

२६ धरणेन्द्रसूरि को उपदेश-(८०)

बोले सुगुरु धरणेन्द्र से फिर ' पाट तो तुमको दिया।'
पर है विदित तुमको नहीं इसकी अभी सारी क्रिया॥
शिक्षा अतः तुम रत्न से लेना निरन्तर ध्यान से।
पद से बड़ा होता न नर होता बड़ा है ज्ञान से॥

२७ धरणेन्द्रसूरि की प्रतिज्ञा-(८१)

गुरुदेव का सुन कर कथन धरणेन्द्र अति रोने लगे।
दुख से व्यथित भर सिसकियाँ सब धैर्य को खोने लगे॥

---

१ आगा पीछा।

रोते हुए बोले पुनः "आदेश है जो तात का।
पालन करूंगा ध्यान में रखते हुए मम बात का॥"

२८ देवेन्द्रसूरि का स्वर्गवास– (८२)

श्रीसूरिवर देवेन्द्रने समझा जुदा इनको नभी।
परित्याग अपने कर दिये आहार चारों का तभी॥
फिर शीघ्र योगासीन हो निज नेत्र को कर बन्द से।
वे साधु सत्तम चल दिये परलोक में आनन्द से॥

२९. प्रतिज्ञापालन— (८३)

"निज शब्द मुख से बुध प्रथम कोई कभी कहते नहीं।
जो कह दिये, उनको बिना पूरे किये रहते नहीं॥"
करुणार्द्र हो देवेन्द्र को जो थे वचन अपने दिये।
दृढ़ता सहित उनको इन्होंने शीघ्र सब पूरे किये॥

(८४)

शिक्षा उचित देकर प्रथम धरणेन्द्र को पण्डित किया।
गते-भेंट फिर दिलवा उन्हें अति मान से मण्डित किया॥

---

१ अशन, पान, खादिम और स्वादिम। २ समाधिस्थ। ३ श्रेष्ठ। ४ यतिसिद्धिविजयजी के समय से बीकानेर और जोधपुर नरेशों के तरफ से तपागच्छीय श्रीपूज्यों को छड़ी, चामर, आदि भेंट बन्द हो गई थी। वही आपने

धरणेन्द्रने भी दफ्तरी पद से इन्हें भूपित किया।
यों वृद्धि कर सम्मान में उपकार का बदला दिया॥

(८५)

इनकी अलौकिक ख्याति अनुदिन वृद्धि अब पाने लगी।
जनता इन्हीं की ओर खिंच कर भक्ति दर्शाने लगी॥

अपनी प्रतिभा से धरणेन्द्रसूरि को पुनः दिलवाना आरम्भ करवा दी। श्री पूज्यों में यह प्रथा सम्राट् अकबर से प्रचलित है। श्री हीरविजयसूरिजीने अकबर को धर्मोपदेश दिया, जिससे प्रसन्न होकर अकबरने सूरिजी की इच्छा न होने पर भी, अपनी भक्ति के स्मरण स्वरूप पालखी, चामर, छड़ी आदि राजसी उपकरण भेंट किया था, जो संघ की इच्छा से आचार्य के आगे आगे चलता रहा। कालान्तर में शिथिलता के कारण श्रीपूज्य—दयासूरि, किसी किसी के मत से श्रीपूज्य विजयप्रभसूरि पालखी में बैठने लगे। तभी से यह परिपाटी श्रीपूज्यों में आज पर्यन्त प्रचलित है।

१ श्रीपूज्यों में दफ्तरी का पद सम्माननीय माना जाता है, या यों समझिये कि यही एक श्रीपूज्यों का अमात्य है। अपराधी यतियों को दण्ड देना, उपाध्याय, पंन्यास, गणिपद आदि का पट्टा लिखना, चातुर्मास का आदेश—पत्र देना और श्रीपूज्य सम्बन्धि सम्पत्ति के आय—व्यय का हिसाब रखना; यह सब दफ्तरी के अधिकार में रहता है।

लगने लगा इनकी विलक्षण बुद्धि का सब को पता।
है छुप नहीं सकती कभी भी मनुज मन की योग्यता॥

(८६)

फिर संगठित कर गच्छ निज अपनी प्रजा प्रिय नीति से।
निष्ठा सहित करने लगे नित धर्म वर्द्धन प्रीति से॥
निज संगठन या प्रीति से जो लोग करते काम हैं।
होते सफल संसार में, रहते उन्हीं के नाम हैं।

३० विग्रह का कारण-(८७)

फिर ग्राम घाणेराव¹ में सहसा हुआ विग्रह खड़ा।
वह आपसी सौहार्द्र² का घातक हुआ इनके बड़ा॥
भवितव्यता वश फिर नहीं उसका कभी वारण हुआ।
ध्रुव³-धर्म के उद्धार का आगे वही कारण हुआ॥

(८८)

था काल चातुर्मास का, श्रीसंघने आग्रह किया।
तब आपने व्याख्यान का सब भार अपने पर लिया॥
जन सादड़ी⁴, वाली, विजापुर आदि के आने लगे।
सुन कर रुचिर उपदेश इनके भव्य गुण गाने लगे॥

---

१ जोधपुर रियासत के गोड़वाड़ परगने का एक कस्बा। २ मैत्रीभाव। ३ सनातन त्रिस्तुतिक। ४ सादड़ी, वाली, वीजापुर ये गाँव जोधपुर रियासत के गोड़वाड़ परगने में हैं।

(८९)

इनका मनोहर यश–विटप[1] जब फूल कर फलने लगा।
तो देख सुन कर चित्त नित धरणेन्द्र का जलने लगा ॥
तब उस सुयश को रोकने की की गई चेष्टा बड़ी।
परिणाम में, जलती अनल[2] में और वह घृत–सी पड़ी ॥

(९०)

"हैं मन मलिन जिनके परम जो स्वार्थ में आसक्त हैं।
अपनी प्रशंसा, मान या अभिमान के जो भक्त हैं ॥
धारे हुए हैं जो सदा अज्ञान मद दुर्द्धर्ष को ।
क्या देख सकते हैं कभी वे और के उत्कर्ष को ॥"

(९१)

"फल भी सुजन उसका उचित ये शीघ्र ही पाते यहाँ।
ईर्ष्या–अनल से दग्ध हो बिन मौत मर जाते यहाँ ॥
जाता किसीका कुछ नहीं, रहते वही नित शोक में ।
मिलता न सुख उनको कभी इस लोक में परलोक में ॥"

(९२)

शुभपर्व[3] था, आचार्यवरने द्रव्य क्रय थोड़ा किया।
संयोग वश देखो इसे, कह हाथ इधर[4] चढ़ा दिया ॥

---

१ यशरूपी वृक्ष। २ आग। ३ पर्युषणपर्व। ४ रत्नविजयजी के तरफ।

हतबुद्धि-से आश्चर्य-नद में रत्न तब बहने लगे।
सम्मान पूर्वक फिर उन्हें ये इस तरह कहने लगे॥

३१ धरणेन्द्रसूरि को शिक्षा-(९३)

"क्या भूलते हैं आप यह श्रीपूज्य हैं आचार्य हैं।
शोभा न देते आपको ये श्रुति असम्मत कार्य हैं॥
देता इसे गार्हस्थ्य भी जब पर्युषण में त्याग है।
तो फिर उसी पर आपका यह क्या उचित अनुराग है?॥"

(९४)

"आती सदा जो वस्तुएँ गार्हस्थ्य के उपभोग में।
क्या डालती बाधा नहीं वह साधुओं के योग में?॥
भोगे उन्हीं को साधु, हा! होता न उनको खेद है?;
गार्हस्थ्य में सद्-साधु में फिर रह गया क्या भेद है?॥"

(९५)

"है आज यह कल दूसरे पर जायगा मन आपका।
क्रम से अधिक कारण बनेगा क्या न वह फिर पाप का?॥
अतएव, मुझको तो तनिक इसकी नहीं पहिचान है।
खरमूत्र[1] अथवा इत्र, युग[2] मेरे निमित्त समान है॥"

---

१ गधे का पेशाब। २ दोनों।

३२ धरणेन्द्रसूरि का उत्तर-(९६)

करके श्रवण इनका कथन धरणेन्द्र मानो जल गये।
थे क्षुब्ध तो अति हो उठे तत्काल किन्तु, सँभल गये॥
कहने लगे इस भाँति फिर वे, क्रोध के आवेश में।
दिखता नहीं अपना पराया है किसीको क्लेश में॥

(९७)

" उपदेश देने में कुशल तो हैं अनेको जन यहाँ।
पर आचरण विपरीत उनके दीखते प्रतिक्षण यहाँ॥
कहते वदन से, पर स्वयं करते न वैसा काम हैं।
पर वे सुजन नित अन्य को करते यहाँ बदनाम हैं॥"

(९८)

" सर्वत्र ही इन सज्जनों का इस समय बाहुल्य है।
पर व्यर्थ थोथी उक्ति का होता न कोई मूल्य है॥
अपने कथन अनुसार ही जिनका सदा व्यवहार है।
उपदेश करने का उन्हीं को बस, यहाँ अधिकार है॥"

३३ आहोरगमन—(९९)

जब रत्नने इस भाँति से धरणेन्द्र की देखी दशा।
सोचा अहो! अन्धा बना देता जिन्हें पद का नशा॥

---

१ अधीर। २ अधिकता।

उन्मार्ग ही भाता उन्हें, है बात कितने शोक की ? ।
अपनी निरङ्कुश वृत्ति से वे हानि करते लोक की ॥

(१००)

यदि इस समय शिक्षा उचित इनको न कुछ भी दी गई ।
तो संघ में यह और घातक व्याधि फैलेगी नई ॥
जब हित वचन इनके लिये सब भाँति व्यर्थ अलीक है ।
तो फिर हमारा भी यहाँ रहना कहाँ तक ठीक है ? ॥

(१०१)

यह सोच निज सहचर[1] सहित अपनी कमर बांधी तभी ।
आहोर[2] जा फिर हाल यह गुरु से किया वर्णन सभी ॥
सुस्मित वदन गुरुदेवने सादर लगा हृद्दाम से ।
समझा दिया, समयोपयोगी निज वचन अभिराम से ॥

३४ आचार्यपदप्राप्ति– (१०२)

फिर योग्य इनको जान कर तल्लीन हो कर हर्ष में ।
उन्नीससौ चोवीस के अति विक्रमी शुभ वर्ष में ॥

---

१ साथी यति । २ जोधपुर (मारवाड़) राज्य के जालोर परगने में यह अच्छा कसबा है । यहाँ वीसा ओसवालों के ५००, वीसा पोरवाड़ों के ६० एवं श्वेताम्बरजैनों के ५६० घर हैं । कसबे में ५ जिनालय, २ उपाश्रय, ४ धर्मशाला,

श्रीसूरिश्रेष्ठ प्रमोदने सब संघ एकत्रित किया।
मन्तव्य इनके सूरि पद हित और फिर उससे लिया॥

(१०३)

हो एक मन बोले सभी हम हैं मुदित इस काम से।
शुभ काम ही बनते सदा हैं आपसे गुण-धाम से॥
इनके विमल चारित्र का सर्वत्र आज बखान है।
इनका उचित सम्मान करना पूज्य-पद का मान है॥

(१०४)

तब सूरिने उत्सव सहित आचार्य पद इनको दिया।
फिर 'रत्न' से 'राजेन्द्र' इनका नाम परिवर्त्तन किया॥
आहोरपतिने[2] भी इन्हें की भेंट आकर अन्त में।
सब तडित गति से यश-कथा यह फैल गई दिगन्त में॥

३९ विहार— (१०५)

गुरुदेव के आदेश से फिर सहचरों के साथ में।
स्वच्छन्द ये फिरने लगे ले धर्मध्वज को हाथ में॥
जब पद कमल धारे इन्होंने शम्भुगढ़ सुस्थान में।
रक्खा न इनके शेष तब श्रीसंघने सम्मान में॥

---

१ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि। २ श्रीयशवन्तसिंहजी ठाकुर। ३ जैनसाधु का चिन्ह जो ओघा कहलाता है। ४ राजपुताना (मेवाड़देश) की एक रियासत।

(१०६)

श्रीयति फतेहने मुदित इनका पाट उत्सव फिर किया।
उस राज्य से मन्त्री प्रवरने उपकरण इनको दिया॥
फिरते हुए इस भाँति आये जावँरा सुख मान के।
तब एक दिन नव्वाबने पूछा इन्हें यों आन के॥

३६ नवाब का प्रश्न—(१०७)

" अर्हन्त के हम धर्म को विधियुक्त जो मानें कहीं।
आहार तो घर का हमारे आप लें अथवा नहीं ?॥"
सुन कर इन्होंने प्रश्न यह पहिले तनिक हँस भर दिया।
गम्भीरता पूर्वक उन्हें फिर इस तरह उत्तर दिया॥

३७ श्रीपूज्य का उत्तर—(१०८)

" है आत्मवत जग-जीव सब अर्हन्त का सिद्धान्त है।
है रम रही सब में प्रभा प्रभु की अथक एकान्त है॥
आत्मा हमारी आपकी इस नीति से सब एक है।
फिर भेद बाहर मानना कितना बड़ा अविवेक है ?॥"

---

१ फतहसागरजी। २ आचार्यपदोत्सव। ३ श्रीपूज्य-संबन्धी लवाजमा। ४ मध्यभारत (मालवे) की एक रियासत का यह मुख्य शहर है—जिसमें वीसा ओशवालों के ३५२ और दशा ओशवालों के १३ एवं श्वेताम्बरजैनों के ३६५ घर हैं और दश जिनालय, दो उपाश्रय हैं। ५ मुहम्मदइस्माईलखान। ६ जैनों के उपास्य देव।

(१०९)

" अर्हन्त के सद्धर्म के जो सर्व श्रेष्ठ विचार हैं।
वे विश्व भर के विज्ञ को समकण्ठ से स्वीकार हैं ॥
कहते खुदा हैं आप जिसको बस वही अर्हन्त हैं।
है लक्ष जीवन एक सब का नाम भेद अनन्त हैं ॥ "

(११०)

" कोई बड़ा होता न जग में वंश आदिक मर्म से।
पावन अधम बनता मनुज है आप अपने कर्म से ॥
सब कर्म जिनके शुद्ध हैं अन्त्यज न है जो नीति से।
बाधा न कुछ, आहार लें, यदि दे हमे वह प्रीति से ॥ "

३८ सचिव का प्रश्न—(१११)

बोले सचिव जो थे वहाँ बैठे अभी चुपचाप से।
मुनिनाथ! मेरा प्रश्न भी है एक छोटा आप से ॥
गुरु-वन्दना को रमणियाँ आती यहाँ अविश्रान्त हैं।
क्या देख उनको आपके होते न मन उद्भ्रान्त हैं ? ॥ "

३९ सूरिजी का उत्तर— (११२)

उत्तर दिया तब आपने इस भाँति उनको शान्ति से।
" वञ्चित न होंगे और भी कुछ आपकी-सी भ्रान्ति से ॥

---

१ शुभ अशुभ क्रिया। २ हजरतनूरखां। ३ बिना रुकावट। ४ चल-विचल।

बस बोध है उनको नहीं कुछ भी हमारी चाल का ।
है भेद उनमें साधु में आकाश का पाताल का ॥"

(११३)

"जिस भाँति शूकर[1]-मांस को लाते अपर[2] जन काम में ।
पर देखना भी पाप है उसका महा इसलाम[3] में ॥
अस्पृश्य हैं उस भाँति ही वे सब हमारी दृष्टि में ।
माता बहिन पुत्री हमें सब दीखती हैं सृष्टि में ॥"

(११४)

"जो साधु, कञ्चन[4] काम[5] की रखते हृदय में वासना ॥
बकभक्त[6] हैं करते यहाँ वे व्यर्थ धर्मोपासना ॥
हैं निज तथा पर के लिये कारण वही विभ्रांट[7] के ।
कुत्ते रजक[8]-से जानलो, घर के न हैं वे घाट के ॥"

४० नवाबसाहब की भेंट—(११५)

सुन हँस दिये नब्बाब, मन्त्री, मुखकमल-से खिल गये ।
थे ध्यान में उनके न वे उत्तर अचानक मिल गये ।
तब शेष कुछ रक्खा नहीं नब्बावने गुण-गान में ।
फिर उपकरण इनको दिये निज भक्ति के उत्थान में ॥

---

१ सूअर । २ दूसरे । ३ मुसलमानी धर्म । ४ स्वर्ण, धन । ५ विषयभोग । ६ बगुलाभक्त । ७ विपत्ति, दुख । ८ धोबी के तुल्य ।

४१ धरणेन्द्रसूरि की चिन्ता—(११६)

धरणेन्द्रने भी की श्रवण इनकी सभी यह यश-कथा।
अपने किये पर आप पछताने लगे तब सर्वथा॥
सोचे विना संसार में जो लोग करते काम हैं।
बस, अन्त में उनके लिये होते बुरे परिणाम हैं॥

(११७)

सोचा उन्होंने, फिर न जो राजेन्द्र को अपनायँगे।
तो मान गौरव नाम के, सब गीत ही मिट जायँगे
यतिवर्य मोती, सिद्धिं, आदिक ज्ञानरस जो थे पिये।
धरणेन्द्रने भेजे उन्हें, इनको मनाने के लिये॥

४२ आमन्त्रण— (११८)

आकर निकट इनके उन्होंने विधि विहित वन्दन किया।
झट आपने भी मोद युत उनको उचित आदर दिया॥
कुशलादि प्रश्नों के प्रथम सुख-सिन्धु में बहने लगे।
फिर पत्र दे धरणेन्द्र का, वे यों इन्हें कहने लगे॥

(११९)

"हे मान्य! सब धरणेन्द्र ही का इस विषय में दोष है।
पर शिष्य के अपराध पर करना उचित क्या रोष है?॥

---

१ मोतीविजय। २ सिद्धकुशल। ३ श्रीविजय-राजेन्द्रसूरि को।

वे आज व्याकुल हो रहे हैं याद कर निज पाप को।
अतएव उनकी पाट की सब लाज है अब आपको ॥"

(१२०)

"जो कुछ हुआ सो हो गया, उस पर न कहना शेष है।
करके कृपा फिर आप चलिये विनय यही विशेष है॥
देवेन्द्र से जो कुछ कहा था आपने, वह पालिये।
जैसे सँभाला था हमे, उस भाँति फिर संभालिये ॥"

४३ आचार्य-कथन—(१२१)

आचार्यने सुन कर कथन सुस्मित वदन उत्तर दिया।
है प्रेम से परिपूर्ण उनके अर्थ यह अब भी हिया ॥
भूले हुए हूँ कृत्य सब जो कुछ उन्होंने हैं किये।
गादी खड़ी की है न मैंने वैर शोधन के लिये ॥

(१२२)

जो बात यतियों के लिये है, शास्त्र से वर्जित अहो ?।
करने लगे उसको हमी, यह धृष्टता कैसी कहो ? ॥
हम तो रहे निर्बन्ध दें उपदेश पर को धर्म का।
क्या पार भी कुछ है हमारे इस महा दुष्कर्म का ? ॥

(१२३)

"यदि शास्त्र सम्मत कुछ नियम वे मान लें अब भी कभी।
श्रीपूज्य सम्बन्धी अनर्गल त्याग दूं झंझट सभी ॥

वे त्याग दें उन्मार्ग को, कहना यही एकान्त है।
शुभ धर्म का विस्तार ही मेरा अटल सिद्धान्त है॥"

(१२४)

" क्या बन सका मुझ से, सभी यह व्यर्थ है पिछली कथा।
पर है असम्भव लौट चलना फिर हमारा सर्वथा॥
जो चाहते हो हों सफल, उद्देश प्रिय सब आपका।
तो मानलो कहना हमारा, काम क्या सन्ताप का ?॥ "

४४ क्रियोद्धार— (१२५)

तब नव नियम यति ले गये, धरणेन्द्र के सम्मुख धरे
कैसे रखें यति आचरण इस तत्त्व से वे थे भरे॥
स्वीकृत किये धरणेन्द्रने लाना उन्हें व्यवहार में।
वह लेख रक्षित है अभी आहोर के भण्डार में

१ नव नियम सम्बन्धी जो लेख हुआ था, वह ज्यों का त्यों पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ उद्धृत किया जाता है—

सही (श्रीपूज्यधरणेन्द्रसूरि)

स्वस्ति श्रीपार्श्वजिनं प्रणम्य श्री श्री कालंद्रीनयरतो भ० श्री श्रीविजयधरणेन्द्रसूरि यरसपरिकरा श्रीजावरानयरे सुश्रावक पुन्यप्रभावक श्रीदेवगुरुभक्तिकारक सर्वावसरसावधान बहुबुद्धि-निधान संघनायक संघमुख्य समस्तसंघ श्रीपंचसरावकां जोग्य धर्मलाभ पूर्वक लिखंति यथाकार्य, चारित्रधर्मकार्य सर्व निरविघ-

नपणे प्रवर्त्ते छे. श्रीदेवप्रसादे तथा संघना विशेष धर्मोद्यम करवा पूर्वक सुख मोकलवा सर्वविधि व्यवहारमर्यादा जास प्रवीन गुणवंत भाग्यवंत सुधर्मिदीपता विवेकी गृहस्थ संघ हमारे घणी वात छो जे दिवस्ये संघने देखस्युं वंदावस्युं ते दिवसे घणो आनंद पामस्युं तथा तुमारी भक्ति ग्रहस्थें करी श्रीतपगच्छनी विशेष उन्नति दीसे छे ते जाण छे. उपरं च तुमारे उठे श्रीपूज्यजी विजयराजेन्द्रसूरिजी नाम करके तुमारे उठे चोमासो रह्या छे सो अणां के ने हमारे नव कलमा बावत खिंची थी सो आपस में मिसल वेठी नहीं, जणी ऊपर रुसाइने नवी गादी खड़ी करने गया छे. इणांको नाम रतनविजयजी हे, हमारा हाथ नीचे दफ्तर को काम करता था. जणी की समजास वदले हमों वजीर मोतीविजे मुनिसिद्धिकुशलने आप पासे भेज्या सो आप नव कलमा को वंदोवस्त वजीरमोतीविजय पास हमारे दसकतासुं मंगावणो ठेरायो ने दो तरफी सफाई समजास कराई देणी सो वोत आछो कियो. अवे श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी के साथ साधु छे जणानेवी वजीर मोतीविजेजी के साथ अठे भेजाई देसी सो आदेश सदामत भेजता आया जणी मुजब भेज देसां. अणां की लारां का साधुवासुं हमें कोयतरे दुजात भाव राखां नहीं ओर नव कलमा की विगत नीचे मंडी हे जिस माफक हमाने कबुल हे, जणी की विगत—

(१) पेली—प्रतिक्रमण दोय टंक को करणो श्रावक साधु समेत करणा करावणा, पचक्खाण वखाण सदा

(१२६)

धरणेन्द्र-विषयक काम जब यह हो गया पूरा सभी।
अपनी क्रिया उद्धार-हित ये हो गये तत्पर तभी ॥
नियमित समय इसके लिये होने लगी तय्यारियाँ।
गाने लगीं मिल गीत मङ्गल मोद-युत नव नारियाँ ॥

थापनाजी की पडिलेहण करणा, उपकरण १४ सिवाय गेणा तथा मादलिया जंतर पास राखणा नहीं, श्रीदेहरेजी नित जाणा सो सवारी में बेठणा नहीं पेदल जाणां.

(२) दूजी—घोड़ा तथा गाड़ी ऊपर नहीं बेठणा, सवारी खरच नहीं राखणा.

(३) तीजी—आयुध नहीं राखणा तथा गृहस्थी के पास का आयुध गेणा रूपाला देखे तो उनके हाथ नहीं लगाणा, तमंचा शस्त्र नाम नहीं रखणा.

(४) चोथी—लुगाइयाँसुं एकांत बेठ बात नहीं करणा, वेश्या तथा नपुंसक याके पास नहीं बेठणा, उणांने नहीं राखणा.

(५) पांचमी—जो साधु तमाखु तथा गांजा भांग पीवे, रात्रि भोजन करे, कांदा लसण खावे. लंपटी अपचक्खाणी होवे एसा गुण का साधु होय तो पास राखणा नहीं.

(६) छट्ठी—सचित्त लीलोती काचा पाणी वनस्पतिकुं विणासणा नहीं, काटणा नहीं, दांतण करणा नहीं, तेल फुलेल

आलस करावणा नहीं, तलांव, कुवा, वावड़ी में हाथ धोवणा नहीं.

(७) सातमी—सिपाई खरच में आदमी नोकर जादा नहीं राखणा, जीवहिंसा करे एसा नोकर राखणा नहीं.

(८) आठमी—गृहस्थी से तकरार करके खमासण प्रमुख रुपिया के वदले दवायने लेणा नहीं.

(९) नवमी—ओर किसीको सद्दहणा देणा श्रावक श्रावकणियाने उपदेश शुद्ध परूपणा देणी. एसी परूपणा देणी नहीं जणी में उलटो उणां को समकित विगड़े एसो परूपणो नहीं. ओर रात को वारणे जावे नहीं ओर चोपड़ सतरंज गंजफो वगेरा खेल रामत कहीं खेले नहीं, केश लांवा वधावे नहीं, पगरखी पेरे नहीं, ओर शास्त्र की गाथा ५०० रोज सज्झाय करणा.

इणी मुजव हमें पोते पण वरावर पालागां ने ओर मुंडे अगाड़ी का साधुवांने पण मरजादा मुजव चलावांगा ने ओर श्रीपूज आचार्य नाम धरावेगा सो वरावर पालेहीगा, कदाच कोई ऊपर लख्या मुजव नहीं पाले ने किरिंया नहीं सांचवे जणीने श्रीसंघ समजायने कह्यो चाहिजे, श्रीसंघरा केणसुं नहीं समझे ने मरजादा मुजव नहीं चाले जणां श्रीपूज्यने आचार्य जाणणो नहीं ने मानणो नहीं. श्रीसंघ की तरफसुं अतरो अंकुश वण्यो रखावसी तो ऊपर लख्या मुजब श्रीपूज

(१२७)

जनवृन्द था सर्वत्र ऐसा भर रहा उल्लास में ।
उमड़े यथा वर्षा समय में घन-घटा आकाश में ॥
थी श्रेष्ठ वाद्य निनाद तोरण आदि की अद्भुत छटा ।
जयघोष के गम्भीर रव से व्योम जाता था फटा ॥

(१२८)

शर-पक्ष-निधि-शशि विक्रमी शुभ वर्ष में इस रीति से ।
श्रीपूज्य का सब उपकरण जिनचैत्य में धर प्रीति से ॥

तथा साधुलोग अपनी अपनी मुरजादा मुजब बराबर चालसी कोईतरेसुं धर्म की मुरजादा में खामी पड़सी नहीं. श्रीसंघने ऊपर लख्या मुजब बंदोवस्त जरूर राख्यो चाहिजे. अठासुं तो हमारे साधुलोगांरा दसकत कराये भेज्या है सो देख लेरावसी संवत १९२४ मिति माहसुदि ७

पं० मोतीविजेना दसकत, पं० देवसागरना दसकत, पं० केसरसागरना दसकत, पं० नवलविजेना दसकत, पं० वीरविजेना दसकत, पं० खिमाविजेना दसकत, पं० लब्धिविजेना दसकत, पं० ज्ञानविजेना दसकत, पं० सुखविजेना दसकत.

१ सं० १९२५ आषाढ़वदि १० शनिवार। २ पालखी छड़ी आदि सामान श्रीआदिनाथ के बड़े मन्दिर में चढ़ाया। तत्संम्बन्धी ताम्र-पत्र सुपार्श्वनाथजिनालय के प्रवेशद्वार की दहिनी भीत पर लगा हुआ है। वह इस प्रकार है—
" जावरानयरे श्रीजिनाय नमः । संवत् १९२५ आषाढ़

श्रीपूज्यपद को त्याग कर सद साधु व्रत स्वीकृत किया।
प्रमोद[1] तथा श्रीधनविजयने[2] शिष्य पद इनसे लिया॥

४५ साधु-विहार--(१२९)

जब कृत्य इनके हो गये धारे हुए पहिले भले।
तब पर्यटन का सोच कर रतलाम[3] को सीधे चले॥

वदि १० भ० श्रीविजयराजेन्द्रसूरिभिः क्रियोद्धारः कृतः, तैः श्रीआदीश्वरप्रासादे रातांविंवादिवस्तूनि भगवदर्थेऽर्पितानि। यथा-छडी १, चमर २, सूरजमुखी ३, छत्र ४, सुखासन ५ ए चीजां भेट कीनी श्रीऋषभदेवजीरे। ए वस्तु माहेसुं कोई देवे देवावे, भांगे तेहने तथा पत्राने उखेले तेहने श्रीचोवीसीनी आण छे, वजीर पं० हमीरविजयना द० छे श्रीहजूर आदेशात् शुभम्।"

१ प्रमोदरुचि-आपका जन्म मेवाड़देशीय भींडरगाँव में सं० १८९८ कार्त्तिकसुदि ५ के दिन शिवदत्तविप्र की पत्नी मेनावती से हुआ। आपके छोटे भाई रघुदत्त और छोटी बहिन रुक्मिणी थी। सं० १९१३ माघसुदि ५ गुरुवार को आपने पं० श्रीअमररुचि के पास भींडर में ही यतिदीक्षा ली। सं० १९३८ आषाढ़वदि १४ के दिन बांगरोद (मालवा) में आपका स्वर्गवास हुआ। आप संगीत शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। २ देखो श्रीयतीन्द्रविजयोपाध्यायकृत ' श्रीधनचन्द्रसूरि-जीवनचरित्र-हिन्दी। ' ३ मध्यभारत (मालवे) की एक रियासत।

प्रमुदित किया रतलाम को संवाद इस अभिरामने।
संघ जैन जैनेतर गये लेने इन्हें तब सामने॥

(१३०)

जा कर मिले इनसे सभी, जब गाँव से कुछ दूर थे।
जयनाद से मिल तीव्र बाजे बज रहे भरपूर थे॥
पद-पद्म में गिर आपके वन्दन किया सबने अहा!।
कर धर्मलाभ प्रदान पहिले आपने उनसे कहा॥

४९ जनता को उपदेश-(१३१)

हाँ, साधु के प्रति आपका सद्भाव यह सुख मूल है।
पर काल व संयोग हमारे इस समय प्रतिकूल है॥
अतएव आडम्बर अपेक्षित इस समय हमको नहीं।
बस है उचित नित काम करना देख अवसर सब कहीं॥

(१३२)

" केवल दिखावे से न होती धर्म की कुछ साधना।
सद्धर्म का सद् मर्म है सत्कर्म की आराधना॥
शम दम क्षमा अक्रूरता, शुचिता अहिंसा सत्यता।
पालन करो, इसमें मिलेगा धर्म का सच्चा पता॥ "

(१३३)

" विश्राम करने मात्र ही को हम रहेंगे बस अभी।
शुभ क्षेत्र-स्पर्शन योग से फिर आगमन होगा कभी॥

तब फिर गये सब लोग सुन इनके विमल उपदेश को।
कुछ क्यों न हो सज्जन कभी तजते न सद् उदेश को॥"

४७ खाचरोद चातुर्मास—(१३४)

रतलाम से फिर शीघ्र ही प्रस्थान निज करते हुए।
उपदेश अमृत मार्ग के सब गाँव में भरते हुए॥
फिर खाचरोद जा द्रुत गति से आपने डेरा दिया।
उस वर्ष चातुर्मास भी अपना वहीं सुख से किया॥

४८ सिद्धान्तस्थिरिकरण-(१३५)

वाचक[2] तथा पंन्यास[3] पद दे शिष्य को अपने यहाँ।
अवलोक कर, सर्वानुमत से जैन-ग्रन्थों को महा॥
फिर दीप्ति में लाये नियम नव[4] अज्ञता का तम हटा।
'सौधर्मवृहत्तपगच्छ' नामक गच्छ है जिसकी छटा॥

---

१ ग्वालियर रियासत के उज्जैन जिले में तहसील का यह मुख्य कस्बा है-जिसमें मूर्त्तिपूजक श्वेताम्बर जैनों के १३७, स्थानकवासियों के ५० और दिगम्बर जैनों के १५ घर आबाद हैं। यहाँ छोटी-बड़ी ५ धर्मशाला और १० सौधशिखरी श्वेताम्बर जिनालय हैं। २ धनविजयजी को। ३ प्रमोदरुचिजी को। ४ 'वन्दन' शब्द स्तुति और नमस्कार दोनों का बोधक है, इसलिये देव-देवियों को वन्दन और अकारण उनसे याचना करना अनुचित है।

४९ चातुर्मास—(१३६)

संसार को सन्मार्ग पर जिनको चलाना इष्ट है ।
उस मार्ग पर चलना प्रथम उनके निमित्त विशिष्ट है ॥
जग मानता है तब उन्हें, गाते सभी उनकी कथा ।
रहते बड़ों के पृष्ठपद ही अन्य लघु जन सर्वथा ॥

क्योंकि अव्रति, सकषायी देव-देवियों को वन्दन करना आगम विरुद्ध है ।

(२) चोथी थुई में पापोपदेश, धन, पुत्र, पौत्रादिक पौद्‌लिक सुख की प्राप्ति की प्रार्थना होने से वह भावानुष्टान (सामायिक, प्रतिक्रमण आदि निरवद्य क्रिया) में त्याज्य है । अतः उसमें चोथी थुई करने से जिनाज्ञाभङ्ग रूप दोष लगता है ।

(३) जैनागम पञ्चाङ्गी के अनुसार तीन स्तुति ही प्राचीन हैं, और प्राचीनकाल में शुद्धाचरणा होने से सर्वत्र तीन स्तुति ही प्रचलित थीं, इसलिये तीन स्तुति ही करना उचित है । पूजादि विशिष्ट कारणों की उपस्थिति में आगमोक्त न होने पर भी गीतार्थाचणा से कभी कभी चोथी थुई की जाय तो हानि नहीं, परन्तु भावानुष्ठान में नहीं करना चाहिये ।

(४) चैत्यवन्दन—के बाद शक्रस्तवादि अनन्तर प्रणिधान पाठ के लिये तीन श्लोक प्रमाण तीन स्तुतियाँ कही जायँ अर्थात् चैत्यवन्दन कहे पीछे शक्रस्तवादि प्रसिद्ध पांच दंडक,

तीन स्तुतियाँ और प्रणिधान तथा प्रार्थना पाठ जब तक कहे जायँ तभी तक जिनालयों में ठहरना चाहिये । कारणोपस्थिति में अधिक ठहरना भी अनुचित नहीं । परन्तु अकारण ठहरने के लिये तो ऊपर उल्लिखित सीमा ही निर्धारित है ।

(५) शास्त्र और विशुद्ध गच्छ-मर्यादा से प्रथम और अन्तिम जिनेश्वरों के शासन में साधु-साध्वियों को यथाप्राप्त श्वेत, मानोपेत, जीर्णप्राय, और अल्पमूल्य ही वस्त्र रखना चाहिये । वस्त्रों को रँगना या रंगे हुए रखना अनुचित है । यद्यपि शास्त्रों में अशिवादि कारणों पर कल्कादि पदार्थों से वस्त्र का वर्ण परावर्त्तन करने की आज्ञा है, परन्तु वर्त्तमान समय में ऐसा कोई कारण उपस्थित नहीं है । अतएव, इस समय में जैनसाधु साध्वियों के लिये वस्त्र रंगना अथवा रंगे हुए रखना दोनों मर्यादा के विपरीत है ।

(६) प्रतिक्रमण में श्रुत, क्षेत्र और भुवन देवी का कायोत्सर्ग स्तुति, लघु शान्ति, बड़ी शान्ति, संतिकर का विधान जैनागम पञ्चाङ्गी और प्राचीनाचार्य कृत प्रामाणिक ग्रन्थों में नहीं है, अतः उनको प्रतिक्रमण में कहना या करना अशास्त्रीय और दोषपूर्ण है । लेकिन साधुओं के लिये पाक्षिक, चतुर्मासिक और साँवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'दुक्खक्खय कम्मक्खय' का कायोत्सर्ग किये बाद आज्ञा के निमित्त भुवन-क्षेत्र देवी का कायोत्सर्ग कर लेने में कोई दोष नहीं है ।

(१३७)

श्रीसूरिवर राजेन्द्रने इस तत्त्व को रख ध्यान में।
उत्सर्ग अपने को किया संसार के उत्थान में ॥
जो जन शिथिल आचार से पथ–भ्रष्ट हो गिरने लगे।
उनको उठाने के लिये सर्वत्र ये फिरने लगें ॥

---

(७) ऋद्धिसम्पन्न और ऋद्धि रहित दोनों श्रावकों को सामायिक दण्डकोच्चार के बाद ही ईरियावहिया करने का जैनागमों का आदेश है। क्योंकि ' तिविहेण साहुणो णमिऊण सामाइयं करेइ करेमि भंते ! एवमाइ उच्चरिऊण ईरियावहियाए पडिक्कमइ ' इत्यादि आगम वचनों से प्रथम त्रिविध योग से गुरुवन्दन करके सामायिक दण्डकोच्चार के बाद ही ईरियावहिया प्रतिक्रमण करना चाहिये।

(८) अपने उपकरण भारिया या श्रावकादि से उठवाना, गृहस्थों से वस्त्र धुलवाना, उपाश्रय या धर्मशाला आदि अपने निवास स्थान पर लाये हुए वस्त्र पात्रादि लेना, चतुर्मास में परदेशों से बहुमूल्य कम्बली, वस्त्रादि मंगवाना, मौजा पहिनना, और नित्य एक ही घर का आहारादि लेना; ये सभी अनाचार हैं। अतः मुमुक्षु साधु–साध्वियों के लिये ये अनाचार त्याग देने योग्य हैं।

(९) जिनेश्वरों की प्रतिमा और उनकी पूजनविधि मूलसूत्र तथा उनके टीका टब्बाओं में अनेक स्थलों पर दिखलाई गई है। इसलिये जिनप्रतिमा का अर्हन्त के समान भक्ति–भाव सहित पूजन, दर्शन करना आत्म हितकर है।

(१३८)

शिवगंज कुक्षी राजगढ़ शुभ जावरा आहोर में।
थिरपुर अहमदाबाद सूरत राजपुर जालोर में ॥
श्रीमाल धोराजी सियाणा बड़नगर रतलाम में।
सानन्द चौमासे किये, अन्यत्र भी कुछ ग्राम में ॥

१ आपने अपने साधु—जीवन में कहाँ कहाँ किस किस संवत् में चातुर्मास किये ?, इसका नक्शा नीचे मुताबिक है—

गाँव नाम	रियासत	विक्रम संवत्	मंदिर	जैनों के घर
शिवगंज	सिरोही	१९३७,५६	७	६२५
कुकशी	धार	१९२७–१९३९,६१	५	८१
राजगढ़	ग्वालियर	१९२८,३४,४०,५१,५२	५	१७४
जावरा	जावरा	१९३०–१९५३	१०	३५२
आहोर	जोधपुर	१९३१,३२,४८,५५,५८	५	५७५
थराद	उत्तरगुजरात	१९४४	१०	४००
अहमदाबाद	गुजरात	१९४१	२१६	८२५०
सूरत	गुजरात	१९६०	२०	१०००
आलीराजपुर	अलीराजपुर	१९३८	२	२१
जालोर	जोधपुर	१९३३–१९५९	१३	८५५
भीनमाल	जोधपुर	१९३६	७	४५१

५० धर्मप्रचार— (१३९)

जो थे विरोधी गच्छ के इनसे समीने आन के।
शास्त्रार्थ निज बल-भर किया मन में दुराग्रह ठान के॥
पर सिद्ध कर पाये न कोई युक्ति वे अपनी कही।
श्रीसूरिवर-राजेन्द्र ही की सर्वदा जय जय रही॥

(१४०)

गुजरात मरुधर मालवादिक में भ्रमण करते रहे।
बहु संख्य मनुजों में विमल सिद्धान्त निज भरते रहे॥

गाँव नाम	रियासत	विक्रम संवत्	मंदिर	जैनों के घर
धोराजी	जूनागढ़	१९४२	२	३००
सियाणा	जोधपुर	१९४६–१९५७	२	३२५
बड़नगर	ग्वालियर	१९६३	४	८७
रतलाम	रतलाम	१९२६, २९, ३५, ५४	१२	८४०
धोरमगाँव	काठीयावड़	१९४५	६	३००
खाचरोद	ग्वालियर	१९२५–१९५०–१९६२	१०	१८७
निम्बाहेड़ा	टोंक	१९४९	३	२००
धानेरा	पालनपुर	१९४३	२	१८८
गुड़ाबालोतरा	जोधपुर	१९४७	३	३२५

वे विस्तरित सिद्धान्त सम्प्रति शैल-से हैं दृढ़ बने।
हारे विपक्षी मेटने के यत्न कर जिनको घने॥

५१ जीवन-कार्य— (१४१)

उन्नत बने निज गच्छ हो प्रेरित इसी उद्देश से।
शुभ अत्यधिक संस्था[1] नियत कीं निज प्रयत्न विशेष से॥
मेटे अनेकों तीर्थ से भी आपने अविधानें[2] हैं।
कोरण्ट[3] भाण्डवें[4] स्वर्णगिरि[5], इनके ज्वलन्त प्रमाण हैं॥

---

१ जिनालय, ज्ञानभंडार, पाठशाला, वाचनालय आदि। २ आशातनाएँ। ३ इसको वर्त्तमान में कोरटा कहते हैं, जो एरनपुरारोड़ से १२ मील पश्चिम में है। यहाँ चार शिखर-बद्ध जिनालय हैं—जिनमें एक २४०० वर्ष का पुराना, दो १२ वीं शताब्दी के और एक नूतन है। ४ जोधपुर के जालोर परगने में यह १२ वीं शताब्दी का बना उत्तम श्रीवीरतीर्थ है, जो जालोर—मारवाड़ स्टेशन से ३० मील पश्चिमोत्तर है। ५ जालोर कस्बे के पास ही यह पहाड़ है, जो आजकल सोनागिर, जालोरगढ़, सोनगढ़ और जालोरकिला नाम से प्रसिद्ध है। इस पर अष्टापदावतार (चोमुखजिनालय) यक्षवसति (महावीर-जिनालय) और कुंमरविहार (पार्श्वनाथ जिनालय) नामक तीन मन्दिर अति

(१४२)

हटने न पावे गच्छ निज मर्याद के शुभ केतु से ।
मर्याद-पट्टक आपने निर्मित किया इस हेतु से ॥
कैसे चले गार्हस्थ्य, क्या है धर्म भिक्षुक का अहा ! ।
समुचित तथा शुभ ढङ्ग से इस बात को उसमें कहा ॥

(१४३)

बहुसंख्य प्रतिमा कीं प्रतिष्ठित आपने निज काल में ।
जतला रहीं सत्कृत्य को जो मन्दिरों में हाल में ॥
इनके प्रतिष्ठा कार्य का ऐसा अपूर्व विधान था ।
सब विघ्न हो जिससे शमन, होता सदा कल्याण था ॥

प्राचीन हैं-जिनमें सरकारी युद्धसामग्री भरी हुई थी। संवत् १९३३ में आपने जालोर चौमासा करके लिखापढ़ी कराके उनमें से युद्धसामग्री निकलवाई और जिनालय जालोर के मूर्त्तिपूजक संघ को सिपुर्द कराये। इस प्रकार कोरंट, माँडव और स्वर्णगिरि; इन तीन तीर्थों की आशातना मिट कर आपके उपदेश से ही जीर्णोद्धार होकर प्रतिष्ठा हुई ।

१ यह मर्यादा-पट्टक 'कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी' के आदि में आपकी संस्कृत जीवनी में छप चुका है, पाठकों को वहीं देख लेना चाहिये । २ आपने साढ़े तीन हजार जिनप्रतिमाओं की बाईस अंजनशलाकाएँ और सौ छोटी बड़ी प्रतिष्ठाएँ कीं ।

(१४४)

तप-कर्म भी तो आपका वह अद्वितीय महान था।
निज देह तक का आपको रहता न जिसमें भान था॥
हिमै ताप वर्षा बिन वसन नित शैल सरिता तट सहे।
विचलित न हो दुख से कभी आ जन्म तप करते रहे॥

(१४५)

चामुण्डवन में ध्यान में ये लीन थे भगवान के।
तब एक आकर दुष्टने मारे इन्हें शर तान के॥

---

१ प्रति चतुर्मास में एकान्तरोपवास, प्रति पर्युषण तथा दीपमालिका का तेला, प्रतिपाक्षिकधर, मासिकधर, बड़ाकल्प और तीनों चोमासी का बेला, प्रति पञ्चमी तथा चतुर्दशी का उपवास और प्रतिदशमी का एकासन यावज्जीवन किया। इसी प्रकार मांगी-तुंगी पहाड़ की भयङ्कर गुफाओं तथा चोटियों पर छः महीना रह कर आठ-आठ उपवासों के थोक से सूरिमन्त्र का आराधन किया। २ शीत, उष्ण काल में बिना वस्त्र (उघाड़े शरीर) पर्वतशिला तथा नदीतट पर आतापना और वारिश काल में कायोत्सर्ग रूप तप किया।

३ यह सघन वन जोधपुरस्टेट के जालोर परगने में मोदरा गाँव के पास है। इसमें अनेक हिंसक जन्तु रहते हैं, परन्तु आपने इस अरण्य में निर्भयता से आठ महीना

उन तीर में से एक भी इनके न जा तन से अड़ा।
कर जोड़ उलटे बीच वह इनके पदों में गिर पड़ा॥

(१४६)

दौड़ा अचानक चोर इनको मारने असि ले वहीं।
पर गिर पड़ा वह बीच ही में जा सका इन तक नहीं॥
जब चेतना आई उसे, जा पाँव में इनके गिरा।
होगा न ऐसा और अब, वह यह प्रतिज्ञा कर फिरा॥

(१४७)

निज गच्छ पर व्यक्तित्व मुद्रा थी लगी इनकी महा।
इसके लिये दृष्टान्त काफी है चिरोले का यहाँ॥
पाई न वर्षों जाति उसके वासियोंने श्रम किया।
पर आपने झगड़ा मिटा फिर जाति में उनको लिया॥

तक आठ-आठ उपवासों के थोक से उघाड़े शरीर कायोत्सर्ग ध्यान किया। १ मालवे में चिरोला नामका एक गाँव है, जो रूनीझा रेल्वे स्टेशन से छः मील पूर्व में है। विक्रम सं० १७२० के करीब यहाँ के एक बीसा ओसवालने कौटुम्बिक कलह के कारण अपनी लड़की की सगाई रतलाम में और ब्रीने सीतामऊ में कर दी। इस बात का एक दूसरे को पता नहीं रहा। निर्धारित समय पर दोनों ओर की बरातें आ उपस्थित हुई, तब भेद मालूम हुआ। दोनों तरफी पंच

(१४८)

थे ध्यान से निज अग्र-वदना आप वह देते बता।
जिसका किसीको स्वप्न में भी था नहीं रहता पता॥

वीच में पड़े, परन्तु सीतामऊ वाले वल पूर्वक लड़की को व्याह ले गये। इससे अपमानित होकर रतलामवालोंने सर्वानुमत से चिरोला और उसके पक्ष के खरसोद, मकरावन, भैंसला, उड़ेखिगा, सलावद, छोटावालोदा, खेड़ावदा तथा सीतामऊवालों को जाति से वहिष्कृत कर दिया। यहाँ तक कि इन गाँवों के कुओं से जल पीना भी बन्द कर दिया और अन्य अजैनों से भी व्यवहार विच्छेद कर लिया। क्रमशः सारे मालवे में इसकी पावन्दी हो गई। कुछ समय उपरान्त सीतामऊवाले तो दण्ड दे कर शामिल हो गये, लेकिन शेष गाँव वहिष्कृत ही रहे। बाद में चिरोला आदि आठ गाँवों के महाजन रतलामवालों के पास आये और दण्ड देने के लिये समुद्यत हुए, परन्तु फिर भी निष्फल रहे। इनको जाति में लेने के लिये मालवे भर का संघ कईवार एकत्रित हुआ, स्थानकमार्गी पूज्य चौथमलजी तथा रतलामनरेशने भी अनेक यत्न किये, किन्तु झगड़े का अन्त नहीं हुआ। भाग्यवश चरितनायक का चौमासा सं० १९६२ का खाचरोद में हुआ। अवसर पाकर चिरोलादि के महाजन आपकी सेवा में आये। फलस्वरूप आपने अपनी शक्ति से विना कुछ दण्ड लिये ही सर्वानुमत से फिर सब को जाति में शामिल करवा दिया।

कुक्षी–दहन[1] के हेतु जैसा आपने मुख से कहा।
उन्नीस दिन के बाद ही वह सत्य हो करके रहा॥

(१४९)

पर–पक्ष[2] कृत आहोर में होने लगी जब स्थापना[3]।
उस काम से तब आपने उनको किया पहिले मना॥
वे मान कर कहना न इनका काम हठवश कर गये।
परिणाम में, करियुक्त जन बारह उसीमें मर गये॥

(१५०)

गत विक्रमी उन्नीससौ छप्पन्न का जो काल था।
उसका प्रथम ही आपने सब को बताया हाल था॥
आश्चर्यकारी और भी बातें अनेक अपार हैं।
पर कह सभी हम चाहते करना न अब विस्तार हैं॥

(१५१)

शुभ कार्य नित करते हुए जो आयु में क्षण थे बचे।
उत्कृष्ट उनमें आपने सब ग्रन्थ हैं बावन रचे॥

---

१ कुक्षी के अनल–प्रकोप में १५०० घर, ३० आदमी, ४ स्त्रियाँ और एकसौ पशु जल गये थे। सब मिला कर सवा करोड़ रूपयों का नुकसान हुआ था। २ पुनमिया गच्छवालों के तरफ से। ३ प्रतिष्ठा।

उन ग्रन्थ में वह विश्व विश्रुत कोप है अभिधान भी।
जिसकी प्रशंसा कर रहे यूरोप के विद्वान् भी॥

---

१ श्रीअभिधानराजेन्द्र (प्राकृत-संस्कृत-विश्वकोप) के सात भाग हैं। मुल्य सातों भागों के एक सेट का १७५) रूपया है। २ इस विश्वविख्यात कोष के विपय में अभी तक ढाईसौ से ऊपर विद्वानों की सम्मतियाँ आ चुकी है। पाठकों के अवलोकनार्थ कुछ नीचे उद्धृत की जाती हैं— विश्वविद्यालय के संस्कृत-पौर्वात्य-भाषाओं के प्रोफेसर सिल्व्हेन लेव्ही पेरिस (फ्रान्स) से लिखते हैं कि—

“ श्रीअभिधान-राजेन्द्र ” कोष का लगा तार पांच वर्षों तक अध्ययन करने के बाद मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि किसी भी वास्तविक भारत भाषाभ्यासी का इस विस्मयजनक ग्रन्थराज के विना काम नहीं चल सकता। इसके विशेष क्षेत्र में यह उस कोष साहित्यरत्न पाटर्स-वर्गडिक्शनरी से भी बढ़ कर है। इसमें हमको आधार और अवतरणों से सज्ज सम्पूर्ण शब्द संग्रह ही केवल नहीं मिलता किन्तु, उन शब्दों के साथ सम्बद्ध मत, मता-न्तर, इतिहास तथा विचारों का पूरा पूरा विवेचन भी प्राप्त होता है। किसी भी विपय का मुझे अध्ययन करने का काम पड़ता है तो मैं अपने राजेन्द्र का साहाय्य लेना आरम्भ करता हूं, और उसमें उस विपय के बारे में मुझे

कुछ उपयुक्त ज्ञान न मिला हो ऐसा कभी नहीं हुआ। क्या ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्मों के क्षेत्र में भी इसके समान ग्रन्थ तय्यार होगा ?"

जगद्विख्यात ऑंग्ल-पौर्वात्य-भाषा के पण्डित प्रोफेसर सरजार्ज एमीयर्सन साहब, के. सी. आई. ई. लिखते हैं कि—

"इस ग्रन्थराज का मुद्रण कार्य अब सम्पूर्ण होने आया है इस बात के लिये मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। मुझे मेरे जैन प्राकृत के अध्ययन में इस ग्रन्थ का बहुत साहाय्य हुआ है। यह विश्वकोष सन्दर्भ तथा आधार दिग्दर्शन के लिये अति मूल्यवान तथा उपयोगी है और जैनप्राकृत के अध्ययन के लिये तो बहुत ही साहाय्य कारी है।"

प्रिन्स आफ वेल्स-कालेज के संस्कृत प्रोफेसर श्री-सिद्धेश्वरजी एम्. ए. जम्बू (काश्मीर) से लिखते हैं—

"अभिधानराजेन्द्र" एक विराट् ग्रन्थ है, जो हिन्दु-स्तान की विद्वत्ता तथा परिश्रम को पूर्णरूप से प्रकट करता है। इस ग्रन्थराज की एक विशेषता यह है कि इसमें आज तक संसार में सर्वथैव अज्ञात ऐसा अमूल्य अवतरण ग्रन्थाधार का बहुत बड़ा भण्डार भरा है।"

(१५२)

वह अक्षरों का आपका ऐसा सुभग विन्यास है ।
क्या हैं लिखे वे हाथ के होता न यह विश्वास है ! ॥
जब देखते हैं तो समझ आती नहीं यह उस घड़ी ।
हैं अक्षरों की पंक्ति यह, या मोतियों की है लड़ी ॥

५२ अन्तिम-उपदेश (१५३)

गुण-शास्त्र-ग्रह-शशि अब्द में वर्षान्त करके जब चले ।
तो बड़नगर से राजगढ़ कुछ शिष्य ले आये भले ॥
हा ! जो दुखद घटना घटी फिर राजगढ़ आवास में ।
अङ्कित रहेगी वह सदा इस गच्छ के इतिहास में ॥

(१५४)

तिथि पोषसुदि छठ के दिवस निज कृत्य सब पूरे किये ।
सब शिष्य को फिर आपने अपने निकट बुलवा लिये ॥

---

१ आपके स्वयं लिखे हुए भगवतिसूत्र, पन्नवणा-सूत्र, समवायाङ्गसूत्र आदि छोटे बड़े ६० ग्रन्थ आहोर के ज्ञानभण्डार में विद्यमान हैं-जिनमें कोई मूल, कोई सटीक, कोई बालबोध और कोई स्तबुकार्थ हैं। आपके हस्ताक्षरों का कुछ अंश पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ सामने के ब्लॉक में अंकित है ।

२ विक्रम सं० १९६३ । ३ तपस्वी श्री रूप-विजयजी, दीपविजयजी, यतीन्द्रविजयजी, लक्ष्मीविजयजी, गुलाबविजयजी, हर्षविजयजी, हंसविजयजी, चन्द्रविजय, नरेन्द्रविजय, रूपेन्द्रविजय, आदि । ४ निवासस्थान । ५ पोष सुदि ६ शुक्रवार के दिन प्रतिक्रमण किये बाद रात के ८ बजे ।

श्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-करकमल-लिखित-

विज्जाचारणस्सणंभंतेउ
ड्ढंकेवइएगइविसए पं गो
सेणंइओएगेणंउप्पाएणं नंद
णवणेसमोसरणं करेतिर
त्ता तहिंचेइयाइंवंदतिरत्ता
बितिएणंउप्पाएणं पं डग
वणेसमोसरणंकरेतिरत्ता
तहिंचेइयाइंवंदतिरत्ता त
ओपडिनियत्तइरत्ता इहमाग
च्छइरत्ता इहचेइयाइंवंद
ति विज्जाचारणस्सणंगोय
माउड्ढंएवइएगइविसएपं

'एकसौ आठ बोल का थोकड़ा' ग्रन्थ के
४२ वें पत्र का चतुर्थांश।

आकर सभीने आपको वन्दन किया सुख से अहा !
तब लक्ष कर इस भाँति उनको आपने मुख से कहा ॥

(१९५)

" निज धर्म सेवा जिस तरह हम से बनी करते रहे ।
सुख मान कर इस के लिये हमने अनेकों दुख सहे ॥
पर हो रहा हैं अब हमारा बन्द जीवन द्वार है ।
अतएव तुम पर आज से इस गच्छ का सब भार है ॥ "

(१९६)

" निज धर्म में अनुदारता से काम मत लेना कभी ।
पर-धर्म के तत्त्वज्ञ के भी तत्त्व नित सुनना सभी ॥
अच्छे बुरे फिर तत्त्व उसमें देखना तुम ध्यान से ।
जो ठीक हों लेना ग्रहण कर हंस जैसे ज्ञान से " ॥

(१९७)

" मत जानना ऐसा कभी, रखते हमी बस सत्त्व[1] हैं ।
संसार के सब धर्म में अच्छे अनेकों तत्त्व हैं ॥
जो अन्य मत सद् तत्त्व का करते नहीं सम्मान हैं ।
वे हैं हठी, रखते अहो ! सब से अधिक अज्ञान हैं ॥ "

(१९८)

" होती परीक्षा सत्य की केवल न एक प्रकार से ।
हैं व्यक्त जा सकता किया वह भिन्न भिन्न विचार से ॥

---

१ सचाई ।

करते पकड़ने की उसे जो ऊँट की सी धृष्टता[1]।
आती विचारों में न उनके पुष्टता, उत्कृष्टता ॥"

(१५९)

"पश्चिम दिशा से जिस तरह दिखता हमें जो शैल है।
देखें उसे जो पूर्व से, मिलता न वैसा मेल है॥
है शैल तो वह एक ही बस सत्य के आधार से।
दिखता अनेकों रूप में पर भूमि भेद विचार से॥"

(१६०)

"बस, ठीक ऐसी ही दशा है सत्य की संसार में।
शङ्का न तुम लाना कभी इससे हृदय आगार में॥
निज बुद्धि का स्वातन्त्र्य[2] ही शुभ सिद्धि-मार्ग प्रशस्त है।
होता न वह कृतकार्य जो परतन्त्रता में व्यस्त[3] है॥"

(१६१)

"अपने विचारों को हमें है योग्य जैसे मानना।
वैसे अपर के भी सदा अपने हृदय से जानना॥
सुविचार विनिमय[4] कर सकोगे तुम सदा इस नीति से।
होता सदा है धर्म वर्द्धन प्रेम पूर्वक प्रीति से॥"

---

१ ढीठई। २ स्वाधीनता, आज़ादी। ३ व्याकुल।
४ परिवर्त्तन।

(१६२)

" यह ध्यान रखना नित्य कोई कार्य श्रेष्ठ समक्ष हो ।
कर्त्तव्य पालन में कभी विचलित न निज दृढ़ वक्ष[1] हो ॥
शुभ रत्नत्रय की प्राप्ति में निर्बल न अपना पक्ष हो ।
संसार का उपकार करना मात्र जीवन लक्ष हो ॥ "

(१६३)

" विष पूर्ण ईर्षा द्वेष के फल का न तुमको भान हो ।
जग के चराचर जीव हित कारुण्य-भाव समान हो ॥
आगम विहित निज धर्म का मनमें उचित अभिमान हो ।
करना सदा वे कर्म जिनसे गच्छ का उत्थान हो ॥ "

(१६४)

" श्रद्धा रहे नित धर्म पर यह ज्ञान एक अखण्ड है ।
श्रद्धा रहित जो है क्रिया, वह दम्भ है पाखण्ड है ॥
निज आत्म उन्नति का यही साधन सफल बरचंण्ड[2] है ।
अविचल रहे मन नभ उदित सद्-बुद्धि का मार्त्तण्डं[3] है ॥ "

(१६५)

" दुष्प्राप्य संयम धर्म धन यदि हो तुम्हे कुछ जोड़ना ।
तो परिभ्रमण करना न तुम सामर्थ्य रहते छोड़ना ॥
बस, परिभ्रमण शैथिल्य से पालन न होता शील का ।
लगता इसीसे साधुता पर निन्द्य टीका नील का "

---

१ छाती । २ प्रचण्ड । ३ सूर्य ।

(१६६)

" आलस्य मत करना कभी भगवान के गुण गान में ।
बीता समय मिलता न फिर रखना सदा यह ध्यान में ॥
भगवान के पूजन भजन बिन जन्म जिनका खो गया ।
उत्कृष्ट मानव जन्म जगमें व्यर्थ उनका हो गया ॥ "

(१६७)

" मेरे मरण का शोक कुछ भी मोहवश करना नहीं ! ॥
तनुधारियों में कौन है पड़ता जिसे मरना नहीं ! ॥
आत्मा सभी की है अमर होता न उसका नाश है ॥
यह देह नश्वर है, कभी रुकता न इसका ह्रास है ॥ "

५३ निर्वाण— (१६८)

अर्हन्नमः अर्हन्नमः करने लगे फिर शान्ति से ।
निस्तेज पर होने लगे क्रम से अनल की कान्ति से ॥
फिर देखते ही देखते वे सर्वदा को सो गये ।
कर आर्त्तनाद महान दुख से शिष्य मूर्छित हो गये ॥

५४ अग्निसंस्कार— (१६९)

" गुरु अन्त का संवाद सहसा प्राप्त कर दुख से भरा ।
दौड़े असंख्यक मनुज अपनी त्याग करके धन-धरा ॥
उस शोक में अविराम सब के अश्रु-कण बहने लगे ।
रोते हुए सकरुण गिरा से फिर सभी कहने लगे ॥ "

(१७०)

" हा ! सर्वगुण सम्पन्न वह सद्गुरु हमारा है कहाँ ? ।
संसार-सागर पार जाने का सहारा है कहाँ ? ॥
हा ! हम सभी हत-भागियों का नेत्र-तारा है कहाँ ? ।
इस लोक का पर लोक का, वह सौख्य सारा है कहाँ ? ॥ "

(१७१)

" भूले हुए थे हम सभी मिथ्यात्व के अभिमान में ।
सत्पथ दिखाया आपने तब लीन करके ज्ञान में ॥
हे देव ! हम पर कौन अब ऐसी करेगा फिर दया ? ॥
निश्चय हमारा आज जीवन भार हमको हो गया ॥ "

(१७२)

" हम में चढ़ा अविचार जब मायावियों की उक्ति से ।
तब आपने हमको बचाया निज अलौकिक युक्ति से ॥
मर्दन करेगा कौन अब प्रतिपक्ष-गौरव-गर्व का ? ।
अब कौन फिर दिखलायगा शुभमार्ग वह अपवर्ग का ? ॥ "

(१७३)

" हे देव ! हम पर आपके जिस भाँति के उपकार हैं ।
वर्णन करें उनका यहाँ किस भाँति हम लाचार हैं ॥ "
इस भाँति शोकावेश में कहने लगे गाथा वहीं ।
अवलोक उस दुख दृश्य को चारों दिशाएँ रो पड़ीं ॥

(१७४)

दिन दूसरे प्रस्तुत हुई चन्दन चिता सुस्थान में।
रक्खा गया गुरु-शव उसी पर, की क्रिया फिर आन में॥
फिर शिर झुका बोले सभी, राजेन्द्र की सब जय कहो।
उठ अग्नि भी बोली तभी, राजेन्द्र की सब जय कहो॥

(१७५)

वह शव उसी क्षण जल गया उस तीव्र ज्वालाजाल से।
पर कीर्त्ति नष्ट न हो सकी उस साधुवर की काल से॥
अच्छा बुरा बस, नाम ही रहता सदा संसार में।
वे धन्य हैं जो हो गये उत्सर्ग पर उपकार में॥

(१७६)

निर्दय चिता का भी हुआ यद्यपि तभी अवसान है।
सुसमाधि-मन्दिर आज पर दिखला रहा वह स्थान है॥
उसमें प्रतिष्ठित आपकी अति एक सुन्दर मूर्त्ति है।
जो दर्शकों में भर रही सद्-धर्म की नव स्फूर्त्ति है॥

५९ उपसंहार— (१७७)

नव धर्म त्रिस्तुतिक का चला राजेन्द्रसूरि विशेष से।
जो कह रहे, वे अज्ञ हैं या कह रहे हैं द्वेष से॥
सर्वज्ञ-अनुमोदित यही सच्चा सनातन धर्म है।
जैनागमों को देखिये जिसमें भरा यह मर्म है॥

(१७८)

यह सत्य है, इसका हुआ था लोप-सा कुछ काल से।
चतुर्थ थुई करने लगे हम विघ्न-भय विकराल से॥
फिर सूरिवर राजेन्द्रने इसका किया परिशोध[१] है।
राजेन्द्र-मत अतएव यह, होता जड़ों को बोध है॥

(१७९)

श्रीसूरिवर राजेन्द्र सच्चे साधु थे, आचार्य थे।
सम्भव उन्होंने कर दिखाए जो असम्भव कार्य थे॥
निज आत्म-बल का आप में ऐसा अलौकिक वास था।
दृढ़ भक्त बन जाता वही, जाता कभी जो पास था॥

(१८०)

प्यासे न रहते थे कभी भी वे सुयश रस-पान के।
पर पादपङ्कज में स्वयं यश लोटता था आन के॥
कुछ क्यों न हो, दैनिक क्रिया करते समय पर थे सभी।
देते न थे निज उपकरण पर को उठाने को कभी॥

(१८१)

यों तो अनेकों साधु अब भी दीखते हैं सृष्टि में।
पर सूरिवर राजेन्द्र-से आये न कोई दृष्टि में॥
भगवान सच्चे साधु फिर इस देश में उत्पन्न हों।
जिनधर्म और समाज जिनसे सब तरह सम्पन्न हों॥



---

१ जैनागमों से शोधन किया—लुप्तप्राय त्रिस्तुतिक सिद्धान्त का पुनरुद्धार किया।

कर्त्ता का परिचय—

(दोहा)

ओसवाल गुरु–शाख शुभ, दोशी गोत्र महान ।
उसमें थे ओंकारजी, शान्त दान्त धृतिमान ॥ १ ॥

आत्मज मिश्रीलाल है, कविकोविद–पद धूल ।
गुण[१९९३]–ग्रह–निधि–शशि अब्द में, ग्रन्थ लिखा सुखमूल ॥२॥

पढ़े पढावेंगे इसे, जो जन धर विश्वास ।
सहज सफल होंगी सभी, उनके मनकी आश ॥ ३ ॥

बुद्धिमान पंडित नहीं, और न कविता ज्ञान ।
भूल चूक मेरी सभी, करें क्षमा मतिमान ॥ ४ ॥

यही भावना है प्रबल, मनके मिटें प्रमाद ।
नित्य सुखद मिलता रहे, गुरुजन आशिर्वाद ॥ ५ ॥



रेखाचित्र—



परमयोगिराज–शासनसम्राट्–जगत्पूज्य–

गुरुदेवप्रभु–श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।



જે વખતે સંઘ–નૌકાનું સુકાન યતિઓના હાથમાં આવી પડયું હતું અને વિદ્યા તથા લાગવગના બળે એક તરફ યતિવર્ગ સસ્તી પ્રતિષ્ઠા મેળવવાની ધમાલમાં પડ્યો હતો ત્યારે બીજી તરફ એવા પણ યતિઓનાં જૂથો હતાં કે જે વૈભવ અને રંગ-રાગમાં અધિકાધિક ઝુકતા જતા હતા.

અને જૈન ઇતિહાસમાં આ ઘટના પહેલીજવારની નહોતી. વિરાટ્ સંઘ વિજયયાત્રાએ નીકળ્યો હોય અને રસ્તે જતાં યાત્રિકોને થાક લાગે–વિરામ લેવા બેસે અને પછી તો એ વિરામને જ વળગીને બેસી રહે એવા ઘણા બનાવો જૈન ઇતિહાસમાં બની ગયા છે.

પ્રવાહ સ્હેજ મંદ પડે અને ખાબોચીયા ગંધાવા લાગે એ જેટલું સ્વાભાવિક છે તેટલું જ ધર્મજીવનમાં પણ શિથિલાચારનું પ્રવેશવું અને વાતાવરણ દૂષિત બનવું સ્વાભાવિક છે. સદ્ભાગ્યે જૈન સંઘમાં બરાબર અણીની ઘડીએ એવાં ખાબોચીયાં સાફ કરી, ધર્મ–જીવનના નિર્મળ પ્રવાહને પુનઃ ગતિમાન બનાવનારા અનેક યુગપ્રભાવકો અને ઉદ્ધારકો પાકયા છે.

એવા પ્રભાવકો અને ક્રિયોદ્ધારકોની ઉજ્જવલ નક્ષત્રમાળામાં શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિનું પણ વિશિષ્ઠ સ્થાન છે. જે વખતે ધર્મનાયકો સુખની સહજ નિદ્રામાં પડ્યા હતા, અનુયાયીઓ ભૂત–પ્રેતના વ્હેમથી ઘેરાયેલા હતા અને જૈન સંસ્કૃતિ છેલ્લા શ્વાસ ઘુંટતી હતી તે વખતે એક શાંત–તેજોમય તપસ્વીનો પ્રકાશ જૈનશાસનના ગગનપટમાં વિસ્તર્યો. શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિની સતત્ જાગૃતિ, સાધના, તપશ્ચર્યા અને નીડરતાએ જૈન સંઘને એનાં સનાતન ગૌરવ અને પ્રતિષ્ઠા ફરી એકવાર મેળવી આપ્યાં.

શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજીનો જન્મ એક વેપારીના પુત્ર તરિકે થએલો અને પ્રથમ વયમાં વ્યાપાર અર્થે એમણે ખૂબ પર્યટન પણ કરેલું. સાહસિકતા બુદ્ધિમત્તા અને સવીર્યતાની કેટલીક સાક્ષીઓ તો આ પ્રવાસમાં પણ મળે છે. સૌભાગ્યમલજી શેઠને ચોરના ઉપદ્રવમાંથી બચાવનાર અને એમની પુત્રીને કઠિન રોગ-શય્યામાંથી ઉઠાડનાર આ જ યુવાન હતો. એ વખતે એમનું નામ રત્નરાજ હતું.

રત્નરાજના પિતાનું નામ ઋષભદાસ અને માતાનું નામ કેશરીબાઇ હતું. તેઓ ભરતપુરમાં રહેતા. સં૦ ૧૮૮૩, પોષ શુદિ ૭ ને ગુરૂવારને દિવસે આપણા ચરિત્ર–નાયકનો જન્મ થયો હતો. એમને એક મ્હોટા ભાઈ હતા, એમનું નામ માણિક્યચંદ અને એક ન્હાની બ્હેન હતી–નામે પ્રેમા બ્હેન.

માતા–પિતાના સ્વર્ગવાસ પછી, વડીલ ભાઇને સમજાવી–એમની આજ્ઞા મેળવી, લગભગ ૨૧ વર્ષની ભરયુવાનીમાં રત્નરાજે મુનિધર્મની દીક્ષા લીધી. વિજયપ્રમોદસૂરિ નામના ગુરૂજીએ એમને ખરતરગચ્છીય યતિ સાગરચન્દ્ર પાસે ભણવા મોકલ્યા અને

ત્યાં એમણે પોતાની બુદ્ધિના ચમકાર બતાવ્યા. એ પછી તેઓ તપગચ્છના આચાર્યશ્રી દેવેન્દ્રસૂરિ પાસે વધુ અધ્યયન, અનુભવ માટે રહ્યા. શ્રી દેવેન્દ્રસૂરિના હૃદયમાં, એમણે વિનય–વિવેક અને બુદ્ધિશક્તિના બળે પોતાનું સ્થાન જમાવી દીધું. દેવેન્દ્રસૂરિએ પણ પોતાના શિષ્ય તુલ્ય સમજી, રત્નરાજને શાસ્ત્ર–સિદ્ધાંત સમજાવ્યા. અહીં સુધી તો શ્રી રત્નરાજની જીવનયાત્રા, રાજમાર્ગે સ્વાભાવિક ગતિએ જતી હોય એમ લાગે છે. એ પછી અણધાર્યો એક અકસ્માત્ બને છે અને રત્નરાજમાં આજ લગી છુપી રહી ગએલી તાકાત બ્હાર આવે છે. આ એકજ અકસ્માત, એક જ ઘટના, શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિના જીવનની મૌલિકતા, વિશિષ્ટતા પુરવાર કરે છે.

× × × ×

દેવેન્દ્રસૂરિનો જીવન–દીપક ઓલાતો હતો. એમણે પોતાના પટ્ટશિષ્ય ધરણેન્દ્ર તથા રત્નવિજય (પાછળથી શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિ) ને પોતાની નજીક બોલાવ્યા. આખરી ભલામણ કરતા હોય તેમ કહ્યું–" ધરણેન્દ્રની સંભાળ રાખજો. "

દેવેન્દ્રસૂરિના સ્વર્ગવાસ પછી રત્નવિજયજીએ, યથાશક્તિ ધરણેન્દ્રસૂરિને યોગ્ય બનાવ્યા. અને ધરણેન્દ્રસૂરિએ પણ રત્નવિજયજીને બહુમાનયોગ્ય સમજી દફ્તરીની પદવીથી સન્માન્યા.

" દફ્તરી " નું પદ એ વખતે યતિવર્ગમાં ઘણું પ્રતિષ્ઠિત લેખાતું. રાજશાસનમાં જે સત્તા અને પ્રતિષ્ઠા અમાત્યની હોય છે તેવીજ સત્તા અને અધિકાર આ દફ્તરીને પોતાના સમુદાયમાં પ્રાપ્ત થાય છે. આજે તો એ પ્રથા લગભગ નાબૂદ થઈ છે પણ શ્રી પૂજ્ય અને એમના દફ્તરીની આજ્ઞાને એ વખતે

અવગણવાની કોઈ હિમ્મત કરી શકતું નહીં. પૂજ્યો જૈન સંઘના રાજવીની જેમ જ રહેતા-વર્ત્તતા.

અપરાધીઓને દંડ દેવા, ચાતુર્માસના આદેશ આપવા, ઉપાધ્યાય, પંન્યાસ, ગણિપદ આદિ પદવીઓ કોઈને પહેરાવવી એ આ પૂજ્યોના અધિકારની વસ્તુઓ ગણાતી. દફ્તરી એમના મુખ્ય સલાહકાર ગણાતા-દફ્તરી જ એવા હૂકમો આપતા. શ્રી પૂજ્યની સંપત્તિનો વ્યય કેમ કરવો ? તેનો દફ્તરીની મુનસફી ઉપર આધાર રહેતો.

શ્રીપૂજ્યો નરેશો જ પ્રકારાંતરે હતા. શ્રી હીરવિજયસૂરિને સમ્રાટ્ અકબર તરફથી મળેલાં પાલખી, ચામર, છડીનો ઉપયોગ તેઓ પોતે તો ન્હોતા કરી શક્યા; કારણ કે એમના દીલમાં વૈભવનો ઉપભોગ કરવાની કોઇ ઝંખના ન્હોતી. એ વખતે તો શહેનશાહના માનની ખાતર, એ રાજસત્તાના પ્રતીક જેવાં ઉપકરણો માત્ર દેખાવરૂપે, પૂજ્યોની આગળ રહી, ત્યાગભાવની જ ધજા ફરકાવતા.

કાળક્રમે એ ઉપકરણોનો ઉપભોગ થવા માંડ્યો અને શ્રી પૂજ્યો પણ માનાપમાનથી મૂર્છિત બનવા લાગ્યા. સત્તાનો દુરૂપયોગ થતો જોઇ, એક વાર બીકાનેર તથા જોધપુરના નરેશોએ, શ્રીપૂજ્યોનાં એ ઉપકરણો ઉપર અંકુશ પણ મૂકેલો.

શ્રી રત્નવિજયજીએ પોતાના બુદ્ધિબળ અને પ્રભાવની અસર એ રાજવીઓ ઉપર પાડી અને ધરણેન્દ્રસૂરિને, એમના પરંપરાગત અધિકાર એમણે પાછા અપાવ્યા. શ્રી દેવેન્દ્રસૂરિએ, અંતિમ સમયે કરેલી ભલામણ, "ધરણેન્દ્રની સંભાળ રાખજો," શ્રી રત્નવિજયજીએ તે પુરેપુરી પાળી બતાવી.

ધરણેન્દ્રસૂરિ પણ રત્નવિજયજીની શક્તિ બરાબર પીછાનતા અને એમની મર્યાદા રાખતા. સંપ અને સદ્ભાવભર્યા દિવસો વીતતા હતા. સગા ભાઇઓની જેમજ બન્નેમાં સંપ અને સૌહાર્દ હતા. ખટપટ કે પ્રપંચને દાખલ થવાનો ન્હાનો સરખો પણ પ્રવેશમાર્ગ ન્હોતો.

એટલામાં પવિત્ર પર્યુષણપર્વના દિવસો આવી ઉભા રહ્યા. દૂર અને નજીકમાં રહેતા ઘણા ભક્તો શ્રી ધરણેન્દ્રસૂરિની સમીપે ધર્મકરણી માટે આવ્યા. પર્યુષણપર્વ તો એક નિયમ તરિકે સર્વ પ્રકારનાં મનનાં મળને સાફ-શુદ્ધ કરનારૂં પર્વ છે. જુના દોષો એ પર્વમાંજ ધોવાય છે. પ્રકૃતિએજ કંઇક એવો જોગાનુજોગ સાધ્યો કે એ જ પર્વમાં એક નજીવી અથડામણ ઉભી થઇ અને શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજી પણ, સાપ જેમ પોતાની કાંચળીનો ત્યાગ કરે તેમ, આ સમુદાય મૂકી ચાલી નીકળ્યા. જે એક અકસ્માત્ અથવા ઘટનાનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે તે અકસ્માતનું આ રીતે બીજારોપણ થયું.

× × × ×

પર્યુષણાપર્વનો પ્રારંભ થઇ ચૂકયો હતો. જે શ્રાવક-શ્રાવિકાઓ પોતાની સાંસારિક ગડમથલમાં રોજ ગુંથાયેલાં રહે છે તેઓ આ પર્યુષણાપર્વના સપ્તાહમાં ગમે તેમ કરીને પણ ધર્મકરણી કરવા તત્પર બને છે. પર્યુષણાપર્વની એ જ એક મોટામાં મોટી વિશેષતા છે કે અનેકવિધ ઉપાધિઓ અને ભોગોપભોગોમાં બૂડી ગએલા ભદ્રિકોને જાણે કે અચાનક જાગ્રત કરે છે. પોતાની ખોવાયેલી ચીજ આજે જ મળી જવાની હોય તેમ જૈન સંઘના સર્વ સભ્યો, પર્યુષણાપર્વમાં ધર્મમંદિરો અને વ્યાખ્યાનમંદિરો તરફ વળે છે. તપશ્ચર્યા, પ્રભાવના, વ્યાખ્યાનશ્રવણ અને મુનિ-

ભક્તિના મોજાઓ ચારેકોર ઉછળવા માંડે છે. બાર–બાર મહિનાના દેહ તથા મનનાં મળ ધોઈ નાખવા સૌ કોઈ તત્પર બને છે. સ્ત્રીઓ, બાળકો, યુવાનો અને વૃદ્ધો, પંડિતો, સુશિક્ષિતો, અને નિરક્ષરો પણ આ પર્વમાં યથાશક્તિ જપ–તપ તથા આરાધના કરવા પ્રેરાય છે. જાણે કે પર્યુષણાપર્વના આરાધન માટે જ પ્રતીક્ષા કરતા બેઠા હોય અને પર્યુષણાના પગલાં સાંભળતાં જ એનું સ્વાગત કરવા શ્વાસભર સૌ દોડી જતા હોય એવાં દૃશ્યો જૈનસંઘમાં ઠેર ઠેર જોવાય છે.

ઘાણેરાવમાં પર્યુષણાપર્વનું પવિત્ર વાતાવરણ ખુબ જામ્યું હતું. શ્રદ્ધાળુઓ પરમભક્ત હતા તેમ શ્રીમંત પણ હતા. ધરણેન્દ્રસૂરિ અને એમના પ્રભાવશાલી પરિવારને લીધે ધાર્મિકતાની સાત્ત્વિક ખુમારી સર્વના વદન ઉપર વ્યાપી હતી.

આ દિવસોમાં એક ભાવિક ઉપાસકે શ્રી પૂજ્યને થોડું અત્તર ભેટ ધર્યું અને પૂજ્યશ્રીએ એ અત્તર પોતાને અંગે પણ લગાવ્યું. અત્તરની ભભક સારાયે ઉપાશ્રયમાં વ્યાપી ગઇ. સામાન્ય દિવસોમાં પૂજ્યશ્રીએ આ ભેટ સ્વીકારી હોત અને એનો છડેચોક ઉપભોગ કર્યો હોત તો કોઇ કંઇ ન બોલત. જૈન સંઘના એક જીવંતસ્તંભ તરીકે જેણે પ્રતિષ્ઠા પ્રાપ્ત કરી છે તે આવા વૈભવ તરફ ઝુકે એ સૌને સ્વાભાવિક લાગત.

પણ શ્રી રત્નવિજયને આ અત્તરની સુગંધમાં, જુગજૂના સ્વચ્છંદ–શૈથિલ્યની ભારે બદબો આવતી દેખાઇ. એમને થયું કે જે ધર્માધિકારી, આવા પવિત્ર પર્વના દિવસોની અંદર પણ પોતાની મનોવૃત્તિ ઉપર અંકુશ ન રાખી શકે તે સમાજના સિંહાસને બેસવાનો અધિકારી કેમ બની શકે ? સમાજના ન્હાનાં

બાળકો પણ જે દિવસોમાં ત્યાગ-તપશ્ચર્યાની અગ્નીપરીક્ષામાં થઈને પસાર થતા હોય તે દિવસોમાં સંઘનો નાયક પોતે જ અત્તરની સુગંધમાં મશગૂલ બની-અત્તરનું અભિમાન દાખવતો સૌની સામે બેસે એ ખુલ્લેખુલ્લું ધર્મનું અને અધિકારનું શું અપમાન નથી ? અને આ શિથિલતા આ રીતે જો વૃદ્ધિ પામતી રહે તો તેનો અંત ક્યાં આવે ? યતિસમાજ કેટલી અધો-ગતિએ પહોંચે ?

અત્તરના નજીવા પ્રસંગે શ્રી રત્નવિજયજીની ઉંઘ ઉડાડી દીધી. વિચારશૂન્યતા અને વિવેકભ્રષ્ટતાની પિશાચિનીએ, સમસ્ત ત્યાગી ગણાતા સમુદાય ઉપર કંઇક ભૂરકી નાખી હોય એમ એમને લાગ્યું. અત્તરની વાસ તો બીજે દિવસે ઉડી જવાની હતી, પણ શ્રી રત્નવિજયજીના ઉલ્લાસવંત આત્મામાં એ અત્તરે શલ્યની વેદના જન્માવી.

"મહારાજ ! આપને આ દિવસોમાં આ વિલાસ નથી શોભતો !" શ્રી રત્નવિજયજીએ ધરણેન્દ્રસૂરિને વિનવ્યા. એમ કહેવાય છે કે શ્રી રત્નવિજયજીએ "અત્તર" ને "ગંધાતા મૂતર" સાથે સરખાવી ઘણા સખત શબ્દો સંભળાવ્યા. આ સખતાઇમાં શ્રીરત્નવિજયજીનો સંયમ તરફનો અત્યુત્કટ સદ્ભાવ નથી દેખાતો ?

એમને સ્થાને જો કોઇ સામાન્ય માણસ હોત તો એનો આત્મા, શ્રીપૂજ્યની આસપાસ અહોનિશ વહેતી વૈભવની છાકમ-છોળમાં, ક્યારનોયે મૂર્ચ્છિત બની ગયો હોત. ગૃહસ્થોરૂપી ઘેટાંનાં ટોળાનાં જે રખેવાળ હોય તેમણે ઘેટાંનાં દીલની પરવા જ શા સારૂ રાખવી જોઇએ ? ઘેટાના પર્વ એ કાંઈ રખેવાળના પર્વ થોડા જ છે ? અને ઘેટાં જે માર્ગે-જ્યારે જતા હોય તે માર્ગે

રખેવાળે તે જ વખતે જવું જોઇએ એવું થોડું જ વિધાતાનું વિધાન છે? શ્રીપૂજ્યો તો રાજા-મહારાજા ગણાય! ગમે તેમ વર્ત્તે! એમને વળી નીતિ કે સંપ્રદાયનાં બંધન હોય?

શ્રી રત્નવિજયજીએ શ્રીપૂજ્યો અને સાધુઓની અધોગતિ બરાબર જોઇ લીધી! આનું પરિણામ શું આવે તે પણ કલ્પી લીધું અને તરત જ એમણે પુનરુદ્ધાર-સાધુતાના પુનરુદ્ધાર અર્થે કેડ બાંધી. અત્તરના એક અતિ સામાન્ય પ્રસંગે, આ વીર્યવાન પુરૂષને અજબ પ્રેરણા આપી.

એ પછી તેઓ આહોર તરફ ગયા. શ્રી પ્રમોદસૂરિએ એમને આચાર્યપદવી અર્પી, રત્નવિજયજીમાંથી શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિ બનાવ્યા.

રાજેન્દ્રસૂરિની વિદ્વત્તા, વક્તૃતા, ચારિત્ર્યશીલતા અને પ્રાભાવિકતાની ખ્યાતિ જોત-જોતામાં સર્વત્ર ફેલાઇ ગઇ. તેઓ કેટલા સમયજ્ઞ હતા અને મુંઝવે એવા પ્રશ્નોના કેટલી સમયસૂચકતાથી ઉત્તર વાળતા એનો એક જ દાખલો અહીં બસ થશે.

જાવરાના નવાબ સાહેબ-મુહમ્મદ ઇસ્માઇલખાને એક દિવસે પ્રશ્ન કર્યો. " આપ સમભાવમાં માનો છો, તો પછી અમારા ઘરનો આહાર આપ લઈ શકો? "

સૂરિજીએ, જીવજંતુ-પ્રાણીમાં આત્મભાવ એકસરખો સ્ફુરી રહેલો છે અને એ દૃષ્ટિએ સર્વ સમાન છે એ સિદ્ધાંત અસરકારક રીતે સમજાવ્યો. અને કહ્યું કે—

" આહાર-વ્યવહાર એ તો આચાર અને લોકરીવાજની વસ્તુ છે. આહારની સાથે જેટલો નહીં તેટલો વિચારની સાથે એનો સંબંધ છે. એક અંત્યજ પણ જો શુદ્ધ ક્રિયાકલાપ ધરાવતો

હોય તો તે બ્રાહ્મણ કરતાં પણ શ્રેષ્ઠ છે. એના ઘરનો આહાર લેવો વિધિયુક્ત છે-એથી ઉલટું, ખાનદાન કુળમાં જન્મ ધરીને જે હલકા આચાર-વિચાર ધરાવે છે તેના ઘરનો આહાર નિષિદ્ધ જ ગણાવો જોઇએ. "

વાર્તાલાપના પ્રવાહમાં સૂરિજીએ ધર્મમાત્રના ધ્યેયનું સ્પષ્ટીકરણ કર્યું. અનેક ભેદ-ઉપભેદોની અને જ્ઞાતિઓ-ઉપજ્ઞાતિઓની ઉપાધિ, આત્મહિત-ઉપાસકને મુંઝવી શકતી નથી એમ કહી નવાબના દીલમાં એક નવો જ જ્ઞાનપ્રદીપ પ્રકટાવ્યો.

દીવાન-સાહેબ, હઝરત નૂરખાંથી ન રહેવાયું. એમણે પૂછ્યું-

" આટઆટલી રમણીઓ-સ્ત્રીઓના સમાગમમાં આપ આવો છો અને છતાં આપ વ્રતમાં અચલ રહી શકો છો એ કઈ રીતે શક્ય છે ? "

સૂરિજીએ જવાબ આપ્યો-" માંસલોલુપી જીવ્હા, જો કોઈ પ્રાણીનું માંસ નીહાળે તો તે તરફ લોભાયા વિના ન રહે. પણ એ જોનાર જો સાચો મુસલમાન હોય અને એને ખાત્રી થાય કે આ માંસ તો સુઅરનું છે તો તેને ધૃણા થયા વિના રહે ? સાધુ પણ સૌંદર્યમૂર્ત્તિ ગણાતી સ્ત્રીમાં ધૃણાજનક વસ્તુઓનો જ પુંજ નીહાળે છે. મુનિજન રમણીમાત્ર પ્રત્યે પોતાની પુત્રી કે બ્હેનની દૃષ્ટિથી જ જુએ છે. આવી સ્થિતિમાં એને વિકાર સંભવે જ શી રીતે ? "

કંચન-કામિનીત્યાગ અને સાધુતા વચ્ચેનો સંબંધ પણ સૂરિજીએ દર્શાવ્યો અને જેઓ એ મોહ-માયામાં ફસાઇ જાય છે તેમની કેવી કફોડી સ્થિતિ થાય છે તે પણ તેમણે બતાવ્યું.

નવાબ અને દીવાન સાહેબ બન્ને પરમ સંતુષ્ઠ બન્યા. રાજેન્દ્ર-સૂરિની સમયસૂચક બુદ્ધિ અને પ્રતિભાશક્તિ જોઈ તેઓ આશ્ચર્ય સ્તબ્ધ થયા.

× × × ×

ધરણેન્દ્રસૂરિને હવે સમજાયું કે શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિનો સહવાસ કેટલો મૂલ્યવાન હતો. એમણે રાજેન્દ્રસૂરિ સાથે પુનર્મિલનની વાટાઘાટ ચલાવવા માંડી.

શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજીએ, દેવેન્દ્રસૂરિને એમની અંતિમ શય્યા પાસે બેસી વચન આપ્યું હતું કે "ધરણેન્દ્રસૂરિને હું સંભાળી લઇશ. એમની ફીકર ન કરશો."

ધરણેન્દ્રસૂરિની વાટાઘાટમાં શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિએ સાચેસાચ હૃદય પલટો નીહાળ્યો. એમને થયું કે જો ધરણેન્દ્ર થોડી સ્થૂળ સરતો પણ પાળે તો ભવિષ્યમાં તેમના હકમાં સુધારો થશે.

શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજીની એ વખતની સરતો આજે પણ તે કાળની પરિસ્થિતિ ઉપર પ્રકાશ પાથરતી હૈયાત છે. એમણે એ સરતોમાં પોતાનાં સન્માન, સુખ કે પ્રતિષ્ઠાને અંગે શબ્દ સરખો પણ નથી નોંધ્યો. જૈન મુનિના આચાર, જૈન મુનિના પ્રભાવનો પુન-રૂદ્ધાર એજ લગની એમના ચિત્તમાં ચોવીશે ચોવીસ કલાક લહેરાતી હોય એમ આ સરતોમાં દેખાય છે. ધરણેન્દ્રસૂરિ અને બીજા યતિઓ પ્રત્યે એમને સુદ્દલ વિદ્વેષ ન હતો. એમને તો જૈન શાસન અને જૈન મુનિના સંવેગની જ ચિંતા સતત્ રહેતી. એની સરખામણીમાં સ્નેહ–મમતા કે અંગત સુખ–સગવડ એમને અતિ તૃણવત્ લાગતા.

નવ નિયમો પૈકીનો એકે એક નિયમ, વસ્તુતઃ શ્રી રાજેન્દ્ર

સૂરિની સરત, જતિ સમુદાયની એ વખતની રહેણી-કરણીનું આબેહૂબ ચિત્ર રજુ કરે છે-સરતોના શબ્દોની સહાયથી આપણે એ ચિત્ર ઉપર ટપકે જોઇ લઇએ.

(૧) યતિવર્ગ, જૈન મુનિ-જનને ઉચિત એવા આવશ્યક વિધિપાલનમાં પુરૂં શૈથિલ્ય દાખવતો હોવો જોઇએ. એટલે શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિ પ્રથમ સરતમાં જ પ્રતિક્રમણ, પડિલેહણ, પચ્ચખાણ ઉપર ખાસ ભાર મૂકે છે. માદલીયા, જંતર તથા બીજી ધાતુઓની વસ્તુઓ નહીં સંઘરવાનો આગ્રહ કરે છે. શ્રાવક-સમુદાયની સાથે પ્રતિક્રમણ કરવાની અને રોજ દેવદર્શને જવાની પ્રવૃત્તિને સત્કારવા સૂચવે છે.

(૨) ઘોડા, ગાડી તથા વાહન વિગેરેમાં આ યતિઓ બહુ ભારે ખરચ કરતા હોવા જોઇએ એમ આ બીજી સરત ઉપરથી ફલિત થાય છે. સૂરિજીએ એનો સ્પષ્ટ નિષેધ કર્યો છે.

(૩) આયુધો ઉપર પણ એમનો મોહ હશે. એમ આ ત્રીજી સરત સ્પષ્ટ કરે છે. યતિવર્યો પોતાને રાજવીની પંક્તિમાં જ લેખતા. જૈનસમાજ એમને પૂજ્ય અને વંદનીય માનતો હોવાથી ક્રમે ક્રમે એમનામાં રાજસત્તાના અભિનિવેશે પ્રવેશ કર્યો હતો. અને રાજાને આયુધો વિના કેમ ચાલે? ધર્મશાસનના સંચાલકને સાત્વિક આયુધો જ શોભે. અહિંસા, સત્ય, બ્રહ્મચર્ય અપરિગ્રહ એજ ખરૂં જોતાં સાધુ પુરૂષનો આયુધાગાર ગણાય, પણ અભિમાન અને સત્તાની અતિશયતાએ ધર્મવૃત્તિને ગુંગળાવી નાખી હતી. યતિઓ બંદુક, તલવાર, ભાલા, ખંજર, રીવોલ્વર આદિ લડાયક સામગ્રી, બીજા કશા ખાતર નહીં તો શોભાની ખાતર પણ રાખતા. શ્રી સૂરિજી એ બધાનો ત્યાગ કરવા પ્રબોધે છે.

(૪) સ્ત્રીઓની સાથે એકાંતે નહીં બેસવાનો, વેશ્યા તથા નપુંસકોને આશ્રય નહીં આપવાનો આમાં ખુલ્લો ઉલ્લેખ છે. એ સામાન્ય ઉલ્લેખ, અર્થ કે વિવેચન વિના પણ સમજાય એવો છે.

(૫) આ સરત તમાકુ, ગાંજો, ભાંગ વિગેરે વ્યસનો ઉપર સીધો પ્રહાર કરે છે. વ્યસનનો દાસ બનેલો મનુષ્ય રાત્રિભોજન કરવા લલચાય એટલુંજ નહીં પણ આચારધર્મે જેને અભક્ષ્ય પદાર્થો ગણ્યા છે–લસણ, ડુંગળી આદિ તેનો ઉપયોગ કરવા પ્રેરાય એ સાવ સ્વાભાવિક છે. જૈન સાધુ–યતિએ આ વ્યસનની છાંયા સરખી નહીં લેવી જોઈએ, તેમ એવો કોઇ સંગાથી આવી ચડે તો પણ તેનો સહવાસ ન કરવો, એમ આ સરત કહે છે.

(૬) સ્નાન–વિલેપન, દાતણ દ્વારા દંતશુદ્ધિ ઈત્યાદિને સંયમી પુરૂષ શૃંગાર–સામગ્રી સમજે છે. દેહ વિષેની પરમ મમતા જ આવી શૃંગારિક ટાપટીપ તરફ તાણી જાય છે. ત્યાગી સાધુને એ પ્રવૃત્તિ ન શોભે. શ્રી સૂરિજી ફરમાવે છે કે વનસ્પતિનો નાશ ન કરવો, લીલોતરી અને કાચા પાણી આદિ સચિત્ત વસ્તુઓનો વહેવાર ન કરવો, દાતણ ન કરવું, તેલ ફુલેલ ન લગાવવાં, કુવા તળાવ–વાવમાં હાથ–પગ ન ધોવાં.

(૭) વધારે માણસો રાખી સીપાઇ–ખરચ ન વધારવું. જીવહિંસા કરનારા નોકરો ન રાખવા. યતિઓ રાજદરબારની જેમ પોતાની પાસે સીપાઇઓનું નાનું સરખું પણ સૈન્ય ધરાવતા હશે. આ કલમ ઉપરથી એમ લાગે છે કે નોકર–ચાકર ન જ રાખવા એમ શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજી કહી શકવાની સ્થિતિમાં નહીં હોય અને તેથીજ એ સામસામા પક્ષ વચ્ચે એક પ્રકારની સંધી કરાવતા હોય એવો આભાસ મળે છે.

(૮) અનુયાયી ગૃહસ્થોને દબાવીને-સતાવીને એમની પાસેથી પૈસા ન લેવા એમ આ સરતમાં કહેવાયું છે. પૈસાનો પરિગ્રહ જ જૈન-મુનિને શા સારૂ જોઇએ ? દ્રવ્યનો મોહ ન હોય તો ગૃહસ્થોને સતાવવાનો–કનડવાનો પ્રશ્ન જ ક્યાં રહે છે ? પરંતુ શ્રીસૂરિજી એમ ખુલ્લું કહી શક્યા નથી. કારણ કે પૈસા રાખવાની પ્રવૃત્તિનો સદંતર વિરોધ કરવા જતાં મોટો કોલાહલ થાય અને થોડી–પ્રાથમિક સુધારણા પણ અશક્ય બને એવી એમને ભીતિ હોવી જોઇએ. એ ભીતિ અસ્વાભાવિક કે અસ્થાને હતી એમ પણ કેમ કહેવાય ? યુગના મહાપુરૂષોને ઘણીવાર બહુ વિચિત્ર પરિસ્થિતિનો સામનો કરવો પડે છે. આદર્શની વાતને સ્હેજ ગૌણ બનાવી તાત્કાલિક મધ્યમ માર્ગ કાઢવો પડે છે. આ પ્રકારની સરતો સામે ઘણો ગંભીર કચવાટ ઉભો થયેલો હોવો જોઇએ એવી કલ્પના થઇ શકે છે. આવી મધ્યમ પ્રકારની સરતો પણ જાણે કે યુગાંતર કરાવનારી હોય એમ કેટલાકોને લાગ્યું હશે.

(૯) શ્રાવક–શ્રાવિકાઓને ખોટો ઉપદેશ ન કરવો. યતિઓએ રાત્રીના સમયે બ્હાર ન નીકળવું ચોપાટ, શતરંજ, ગંજીપો વિગેરેની રમતો ન રમવી. માથાના વાળ બહુ ન વધારવા–પગરખાં ન પહેરવાં અને રોજ શાસ્ત્રની ૫૦૦ ગાથાની સઝાય કરવી. મુનિજીવનની સાદાઇ અને સ્વાધ્યાયની આવશ્યકતા તરફ સૂરિજીની કેટલી જાગ્રત દ્રષ્ટિ હશે તે આ સરતથી સમજાય છે.

શ્રીસૂરિજી આ સરતો પોતાની લાગવગથી મંજુર કરાવી શક્યા. શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજી પોતે એક પ્રકારના રાજવૈભવનો ત્યાગ કરી જતા હોય-ક્રિયાના પુનરૂદ્ધાર અર્થે પોતાની તમામ સત્તા અને વિલાસ વોસરાવતા હોય અને સાથે બીજા નાના–મોટા

રાજકુમારો જેવા પૂજ્યોને મુનિપણાની બીજીવાર દીક્ષા આપતા હોય એવું એક સુંદર-ભવ્ય ચિત્ર આપણી આંખ આગળ ખડું થાય છે.

ઘરનાં સુખ-સગવડનો ત્યાગ કરનાર આ પુનરૂદ્ધારક જ્યારે જાવરામાં પોતાની છડી, ચામર, સૂરજમુખી, છત્ર, સુખાસન વિગેરેને તિલાંજલી આપે છે ત્યારે એમની ત્યાગની ભાવના તથા ત્યાગની શક્તિ કેટલી અચળ અને બળવાન્ હોવી જોઇએ તે કોઈને શબ્દોથી સમજાવવાની જરૂર નથી રહેતી. એમનો ત્યાગ પોલો અથવા દંભના અંશવાળો હોત તો તેઓ સહેજે પોતાના સાધનોનો બચાવ કરી શકત. પરંતુ આસપાસના સહચારીઓ-અનુયાયીઓ ઉપર એની આટલી તલસ્પર્શી અસર ન થવા પામત.

× × × ×

શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજી એક જન્મસિદ્ધ યુગપ્રભાવક હતા. યુગપ્રભાવકને પહેલાં તો ઘણી સાફસુફી કરવી પડે છે. સૈકાઓ જૂના જાળાં-જાંખરાં કાઢવા જતાં ઘણો કચરો ઉડે છે અને કવચિત સાફસુફી કરનારને જ એવા મેલના છાંટા ઉડે છે. શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિ શુદ્ધ પુનરૂદ્ધારક હોવા છતાં એમની ઉપર ત્રણ થોઇ પ્રવર્ત્તાવવાનો આરોપ મૂકાયો. શ્રી સૂરિજીએ આ વિષે ઘણો અસરકારક શાસ્ત્રાર્થ કર્યો છે-ત્રણ થોઇ જ શાસ્ત્રીય-વિહિત છે એમ એમણે પ્રમાણપૂર્વક સિદ્ધ કરી બતાવ્યું છે. પણ સામાન્ય વાચકે એટલા બધા ઉંડા પાણીમાં ઉતરવાની જરૂર નથી. ત્રણ થોઇના પ્રચાર પાછળ-પુનરૂદ્ધાર પાછળ એ સૂરિશ્રેષ્ઠના કેવા પવિત્ર મનોભાવ હોવા જોઇએ તે જો આપણે એકવાર સમજી શકીએ તો એ આરોપ-આક્ષેપમાંથી શ્રી સૂરિજીને તદ્દન મુક્ત અને નિર્દોષ હોવાનું આપણે હિમ્મતપૂર્વક કહી શકીએ.

દેવ-દેવીઓની વધારે પડતી, અનાવશ્યક ઉપાસનાએ ભલભલાં શ્રદ્ધાળુઓની શ્રદ્ધા અને સ્વાભાવિક શક્તિને હણી નાખી છે. ઋદ્ધિ-સમૃદ્ધિના ભંડારની બધી ચાવીઓ જાણે દેવતાઓના જ હાથમાં હોય એમ આપણે માની લીધું છે. દેવ-દેવીની કૃપા કે મહેરબાની ન હોય તો પામર મનુષ્ય શું કરી શકવાનો હતો? આ માન્યતાની સાથે જૂદા જૂદા પુરોહિતો, માંત્રિકો-તાંત્રિકો અને યતિ-ગુરૂઓએ ભ્રમજાળને વધુ ને વધુ ફેલાવવામાં સહકાર આપ્યો. બાધાઓ, માન્યતાઓ, દોરા-ધાગા, મંત્ર-તંત્રોવડે વ્હેમનાં વાદળાં દિન-પ્રતિદિન વધતાં જ ચાલ્યાં. આજે પણ આપણો દેશ કે સમાજ એની છાયાથી છેક નિર્લિપ્ત છે એમ કોણ કહે છે?

શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજીએ જોયું કે દેવ-દેવીઓને અણઘટતાં આસનો મળી ગયાં છે. શુદ્ધ, આત્મહિત સાધનારી ધર્મક્રિયાઓમાં પણ દેવ-દેવીઓની ઓછી દરમ્યાનગીરી નથી. અને જેઓ અજ્ઞાનમાં ગળા સુધી બૂડેલા હોય, ગુરૂઓ ઉપર આંધળી શ્રદ્ધા રાખી, હતાશ બની બેઠા હોય તેઓ દેવ-દેવીને નામે લૂંટાયા વિના કેમ રહે? એમને બચાવવાનો એક જ માર્ગ શ્રીસૂરિજીએ જોયો. એમણે સંસારના મેદાનમાં-ખુલ્લા ચોકમાં ઉભા રહી જાહેર કર્યું—

"અવ્રતી, કષાયયુક્ત એવાં દેવ-દેવીને ધર્મક્રિયા નિમિત્તે વારંવાર વંદના કે યાચના કરવાની જરૂર નથી."

દેવ-દેવીઓની સામે ખુલ્લે-ખુલ્લી જેહાદ જગવનાર આ પુરૂષ કોણ નીકળ્યો? દેવ-દેવીનું નામ પડતાં જ જેમનાં ઉન્નત મસ્તક નીચે નમી પડતા તેમના આશ્ચર્યનો પાર ન રહ્યો. દેવ-દેવી-

ઓને એમનાં પુરાતન આસનેથી ખસેડનાર કોઇ જબરજસ્ત પુરૂષ હોવો જોઇએ એમ સૌને લાગ્યું. એક મનુષ્ય, બીજા મનુષ્યથી ગભરાઇ જતો હોય ત્યાં દેવના નામે આવી ખુલ્લી પ્રરૂપણા કરનારની ધાક બેઠા વિના કેમ રહે ?

બીજી તરફ જેઓ દેવ–દેવીઓને નામે સમાજ ઉપર અનેકવિધ અધિકાર માણતા, માણુસની નબળાઇને અંગે જેઓ મંત્ર–તંત્ર, વરદાન, સંકલ્પસિદ્ધિની મોટી દુકાનો ચલાવતા તેઓ આ અહાલેક સાંભળી આશ્ચર્યચકિત બન્યા.

શ્રી રાજેદ્રસૂરિની આ પ્રરૂપણાએ વિજળીના આઘાતની જેમ સમાજને એકદમ જાગૃત બનાવ્યો. એમણે દેવ–દેવીની સ્તુતિવાળી ૪ થી થોઈ અશાસ્ત્રીય–પાછળથી પ્રક્ષિપ્ત થએલી જાહેર કરી. જેઓ યુક્તિથી એની સામે લડી શકયા નહીં તેમણે શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિ ઉપર નવા પંથ–પ્રવર્ત્તનના મેલાં છાંટા નાખી સંતોષ માન્યો.

સૂરિજીએ સઘળા જ વાંધા–વિરોધોના સચોટ ઉત્તરો આપ્યાં છે. એની પુનરૂક્તિ અહીં કરવાની જરૂર નથી. “ સૌધર્મ બૃહત્ તપગચ્છ ” ને નામે એમણે શાસ્ત્રીય વિધિવિધાન અને મુનિધર્મના પુનરૂદ્ધારનો પડકાર કર્યો.

એ પુનરૂદ્ધાર અંગે એમણે જે નવ નિયમો યોજ્યા છે તે એમની શાસનરસિકતા–ધર્મની ધગશના જ્વલંત પુરાવારૂપ છે. દેવ–દેવીઓના વધારે પડતા પાખંડ સામે જેમ તેમણે પડકાર કર્યો છે તેમ મુનિના રંગીન વસ્ત્ર, જિનમંદિરમાં અનાવશ્યક વસવાટ અને મુનિજીવન સાથે સંબંધ ધરાવતી નાની–મોટી અનેક સ્ખલનાઓ વિષે તેમણે જાહેર જુંબેસ ચલાવી છે. એ ઉપરથી

એ વખતે જિનમંદિરમાં વગર કારણે ઉપાસકો વધુ વખત વીતાવતા હોય અને મુનિઓ કીંમતી વસ્રો વડે પોતાના દેહને શોભાવતા હોય એવો ગર્ભિત ધ્વનિ નીકળે છે. મજુરો પાસે કે ભક્તજનો પાસે, સાધુઓ જો પોતાના વસ્ત્ર-પાત્રનો ભાર ઉપડાવતા હોય તો તેનો પણ આ યુગપ્રવર્ત્તકે નિષેધ કર્યો છે.

જમાનાના ઔદાસિન્ય અને શૈથિલ્ય સામે બેઠો બળવો જગાવનાર આ પુરૂષ, સામા પક્ષના આઘાતથી છેક બચી જાય એ અસંભવિત છે. આક્ષેપો અને આરોપોની એમણે બહુ દરકાર નથી કરી. સૌને એમણે સીધા જવાબ આપ્યા છે. અનેકવાર શાસ્રાર્થ કર્યા છે. એ રીતે રાજેન્દ્રસૂરિએ પોતાની શક્તિનું પાણી બતાવી આપ્યું છે.

અધ્યયન અને શાસ્રીય વાદવિવાદમાં જેમ એમના યુગમાં એ એક અજોડ શક્તિશાલી પુરૂષ હતા, તેમ તપશ્ચર્યા, વિહાર અને તડજોડમાં પણ એમની તાકાતના ચમકારા દેખાય છે. એકાંતરે ઉપવાસ [ચાતુર્માસ દરમ્યાન] અને એક સાથે બબ્બે ત્રણ ત્રણ ઉપવાસ કરવા એ તો એમને માટે સહજ વાત હતી. જ્ઞાન અને તપશ્ચર્યાનો એમણે સરસ મેળ સાધી લીધો હતો.

તપશ્ચર્યાની સાથે પહાડની ભયંકર ગુફાઓમાં રહી ધ્યાન ધરવાની એમની પ્રવૃત્તિ પણ આપણને આશ્ચર્યસ્તબ્ધ બનાવે એવી છે. ગુફાઓ, પર્વતશીખરો અને નદી કીનારા ઉપરના ગાઢ જંગલમાં રહી એમણે ટાઢ-તડકા અને વરસાદનાં ભયંકર કષ્ટો પ્રસન્ન વદને વેઠયાં છે.

વિહારનું ક્ષેત્ર પણ એમનું અતિ વિશાળ હતું. પ્રતિષ્ઠાઓ

અને અંજનશલાકા વિષે પણ એમણે ઉદાસીનતા નથી સેવી. એમ કહેવાય છે કે શ્રી સૂરિજીએ સો જેટલી નાની-મોટી પ્રતિષ્ઠાઓ કરાવી છે અને સાડાત્રણ હજાર જેટલી જિનપ્રતિમાઓની અંજનશલાકા કરી છે.

ગામ-ગામના મહાજનો વચ્ચે ચાલતા જૂના વિખવાદો પણ એમણે પોતાની ન્યાયવૃત્તિથી ધોઇ નાખ્યા છે. એક બીજા ગામનાં પાણી હરામ કરનારા જ્ઞાતિ મંડળોને સમજાવી એકતાના સૂત્રથી ફરિવાર બાંધી લીધા છે. મેવાડ માળવાના જૈન મહાજનો ઉપર એ સૂરિજીએ અનંત ઉપકારની વર્ષા કરી છે એમ કહીએ તો કંઇ ખોટું નથી.

× × × ×

એક મહર્ષિના સંબંધમાં એમ કહેવાય છે કે તેઓ પોતાના ગ્રંથલેખનમાં એટલા બધા તલ્લીન બની બેઠા હતા કે એમની પાસે થઇને એક જબરજસ્ત યુદ્ધસેના પસાર થઇ ગઇ તેનું પણ તેમને લક્ષ ન રહ્યું. જ્ઞાની અને યોગીની એ પ્રકારની તલ્લીનતા સમજાય એવી છે.

પણ જ્યારે એક સાહિત્યભક્ત બરાબર યુદ્ધની મધ્યમાં બેઠો હોય, ચોતરફથી બાણુની વર્ષા થઇ રહી હોય તે વખતે પણ એની સાહિત્યધારા અટૂટ અને અસ્ખલિત વહેતી રહે તો આપણે એને માત્ર તલ્લીનતા જ ન કહીએ. એમના ધૈર્ય અને જ્ઞાનાનુરાગ પ્રત્યે આપણું હૃદય ભક્તિભાવથી દ્રવિત થયા વિના ન રહે.

શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજી પુનરુદ્ધારક હતા, તપસ્વી હતા, શાસનના સ્તંભસ્વરૂપ હતા, જ્ઞાન દીપક પ્રકટાવનાર હતા એવું એવું તો ઘણુંયે કહી શકાય, પરંતુ તેઓ એક યોદ્ધા હતા અને છતાં

યુદ્ધની વચ્ચે બેસીને સાહિત્ય તથા જ્ઞાનની એકાગ્રપણે આરાધના કરી શકતા એમ એમના ગ્રંથોની સંખ્યા તથા વિષયોની તલસ્પર્શીતા જોયા પછી કોણ નહીં કહે ?

સૂરિજીનું આખું જીવન યુદ્ધના મેદાન ઉપર જ વીત્યું છે. એમને પોતાના જ ભાઇઓ અને અનુયાયીઓ સાથે તત્ત્વ તથા સિદ્ધાંતના સંબંધમાં પગલે પગલે ઝગડવું પડ્યું છે. સમાજના અજ્ઞાન અને અંધશ્રદ્ધા સામે પણ એમને કંઇ ઓછું ઝઝુમવું નથી પડ્યું. પરધર્મીઓ કે આક્રમણકારીઓ સાથે દ્વંદ્વ ખેલવા અને વિજય વર્ત્તાવવો એ સ્હેલી વાત છે. પણ પોતાના સ્વજનો સાથે નિરંતર યુક્તિ–પ્રયુક્તિ સાથે પેશ આવવું અને છતાં સૌહાર્દ તથા સદ્‌ભાવની ધાર સતત્ વહેતી રાખવી એ તો તલવારની ધાર ઉપર નાચવા જેવું દુઃશક્ય છે. શ્રી સૂરિજીએ એ દુઃશક્યતાને પણ સુશક્ય કરી બતાવી છે.

શીતળ છાંયામાં આરામથી બેસી સૂરિજીના જેવી જો કોઇએ માત્ર સાહિત્ય–સેવાજ કરી હોત તો પણ તે ધન્ય અને ચિરસ્મરણીય બની જાત. સૂરિજીએ લગભગ બાવન જેટલાં ગ્રંથો રચેલા છે. એ ગ્રંથોમાં અભિધાનરાજેંદ્રકોષ તો સર્વના મુકુટમણિ રૂપ છે એટલુંજ નહીં, જૈન મુનિઓની સાહિત્યસેવાના મંદિર ઉપર એક સોનેરી કળશ છે એમ વગર સંકોચે કહી શકાય.

શ્રી અભિધાનરાજેન્દ્રકોષની સમીક્ષા કરતા માનનીય, પ્રમાણભૂત ગણાય એવા પૌર્વાત્ય તેમજ પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનોએ પણ શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજીની શક્તિ, વિદ્વત્તા અને એકધારા અધ્યવસાયની મુક્તકંઠે સ્તુતિ કરી છે. સૂરિજીએ પોતાના જીવનમાં કદાચ બીજું કોઇ કાર્ય ન કર્યું હોત, માત્ર આ એક કોષ જ અર્પી

ગયા હોત તો પણ એમનું નામ અમર રહી જાત! આવી કોટીની સામાન્ય રચનાથી જો કોઇ સન્માનને યોગ્ય બની શકતું હોય તો સૂરિજી—જેમણે ચર્ચા અને શાસ્ત્રાર્થના યુદ્ધ મેદાનમાં ઉઘાડે શરીરે બેસી આ સંગ્રહ-સંશોધન અને સંપાદન કર્યું, તેઓ સાહિત્ય અને દર્શનના દરબારમાં વંદનીય બને એમાં આશ્ચર્ય જેવું શું છે?

પુનરૂદ્ધારકો અને સાહિત્ય સુભટો માત્ર લડવૈયાની શક્તિ લઇને જ જન્મે છે એમ જો કોઇ માનતું હોય તો તે ભ્રાંતિ છે. અંતરમાં આધ્યાત્મિકતાનું નિર્ઝરણુ ન વહેતું હોય તો પુનરૂદ્ધાર અને સાહિત્યરચના પણ નીરસ બની જાય. શ્રી સૂરિજીનું દીલ આધ્યાત્મિકતાના તત્ત્વોથી છલોછલ હતું. એ આધ્યાત્મિકતાએ જ એમના સંગ્રામમાં અને સાહિત્યમાં રોજ રોજ નવી શક્તિ પૂરી: રોજ રોજ ખીલતા સૂરિજીના જીવન-કુસુમોમાં અનન્ય સૌરભ અને અસામાન્ય સુકુમારતા ભરી દીધી. એમની સ્મૃતિઓમાંથી પણ જાણે કે દૂર-દૂરથી અધ્યાત્મની સુવાસ સ્ફુરતી હોય એમ લાગે છે.

સૂરિજીના જીવનને વિવિધ દ્રષ્ટિકોણથી જોઇએ તો કોઇ વખત તેઓ પોતાના સમુદાયની સંકુચિતતા અને શિથિલતાને, ચિકિત્સક જેટલી જ મમતા અને કડકાઇથી ધોઇ નાખતા દેખાય છે, કોઇ વાર મંદિરો અને મૂર્ત્તિઓની પ્રતિષ્ઠા તથા અંજનશલાકા કરતા દેખાય છે, કોઇ વાર ગુફામાં કે નદી કાંઠાના નિર્જન પ્રદેશમાં કાયોત્સર્ગે રહી જાણે કે સંસારના સર્વ ઉપદ્રવોને પડકાર કરતા દેખાય છે, કોઇ વાર વિરોધીઓની સાથે સ્નેહ-સૌહાર્દભર્યા અંતરે શાસ્ત્ર અને સિદ્ધાંત, આચાર અને યુગાદેશ વિષે ગંભીર જ્ઞાનચર્ચા કરતા દેખાય છે, કોઇ વાર તપસ્યાથી

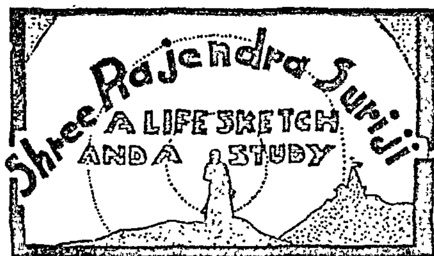
જીર્ણ બનેલા દેહની વાસનાઓને ઉગ્ર તપશ્ચર્યાના અગ્નિપુંજમાં બાળીને રાખ કરવા મથતા દેખાય છે, કવચિત્ માળવા–મેવાડ અને ગુજરાતના વિકટ અરણ્યો વીંધીને ચાલી જતી વર્ષાની વાદળી જેવી એમની કાયા દૃષ્ટિગોચર થાય છે તો કોઈ વાર સાહિત્ય રચના–ગ્રંથલેખનમાં મોતી જેવા સુંદર-સ્વચ્છ અક્ષરો પાડતી એમની લેખિની આસપાસની સર્વ જંજાળો સામે અટ્ટ-હાસ્ય કરતી દોડતી દેખાય છે.

શ્રી સૂરિજીએ લગભગ ૮૦ વર્ષનું આયુષ્ય ભોગવ્યું. પણ એમના જીવનની વિવિધ પ્રવૃત્તિઓ જોતાં, એમના વિહાર અને ઉપદેશની તુલના કરતાં, જાણે અદૃશ્યમાં વિચરતી જ્ઞાનીઓની જમાતનો કોઈ એક સાધક, નક્ષત્રખચિત ગગનમંડળમાંથી એકાદ તારો ખરીને પૃથ્વી ઉપર ઉતરી આવે તેમ આ વિવાદ–કલેશ અને અજ્ઞાનથી બળી-ઝળી રહેલા પ્રદેશ ઉપર, ઉપદેશ–વારી સિંચવા માટે જ જાણે કે થોડા કાળ માટે આવી ચડ્યો હોય અને પોતાનું જીવનકાર્ય પુરૂં થતાં અહીંથી ચાલી નીકળ્યો હોય એવી કલ્પના થાય છે. સૂરિજી, એમના જીવનમંત્ર જેવો શાસન પુનરૂદ્ધારનો સંદેશ લઇને એ અવસરે ન આવી પહોંચ્યા હોત તો વિલાસ અને જોહૂકમીમાં ડૂબેલો ધર્માધિકારી વર્ગ અને અનાચારોથી રીબાતો અનુયાયી વર્ગ આજે કેવી શોચનીય સ્થિતિ ભોગવતો હોત ?

જૈન શાસનના સદ્ભાગ્યેજ શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજીને સર્જ્યા ! જૈન સમાજના બાકી રહી ગએલા પુણ્યબળે શ્રી સૂરિજીના જીવ-નમાં સિંહશક્તિનો સંચાર કર્યો. સૂરિજીએ જ માર્ગભૂલેલા ધર્મજીજ્ઞાસુઓને પ્રકાશ દાખવી રાજમાર્ગે દોર્યા ! એમણે જ પતન તરફ વહેતા ભદ્રિકોને પાછા વાળ્યા ! એમણે જ જૈન

સંપ્રદાયના શુષ્ક બનતા જતા ધર્મ ક્ષેત્રમાં સ્વર્ગગંગાનો પુનિત પ્રવાહ વહાવ્યો. સૂરિજીની માન્યતાઓ સાથે જેને મતભેદ છે, સૂરિજીના સિદ્ધાંત સાથે જેઓ સહમત નથી તેમનાં પણ મસ્તક એ સ્વર્ગસ્થ સૂરિજીની તપશ્ચર્યા, જ્ઞાનભક્તિ અને લોકકલ્યાણ-કામના પાસે ઝુકયા વિના નહીં રહે ! આવા યુગપ્રભાવક અને ક્રિયોદ્ધારકના પ્રતાપે જ જૈન શાસન જયવંતુ અને જીવંત રહ્યું છે અને રહેશે. યુગધર્મના એવા પયગંબરોને આપણા અનંત વંદન હોજો !





There was a stage in the history of Jainism when the leadership and guidance of the mass of followers were assumed by the Yatis. A class of these leaders was busy utilising their influence for the gain of cheap popularity. There was another class at the same time in existence which day by day indulged more and more in pleasures and luxuries of worldly men.

And it was not for the first time in the history of the Jains that such a stage was reached by those *who were in charge of the spiritual welfare* of the community. Imagine a huge caravan on a long journey, seeking rest at a caravansarai after the fatigue of the day and a body of the travellers taking the halting place as the goal, and refusing to move further. Such a stage was

reached by these holy men at the time about which we are speaking.

It is natural that the water accumulated in pools and puddles would begin to stink in absence of a supply of fresh water. So does Life sink into motionless and stationary meaningless forms in absence of Spirit. It has always happened in the annals of the Jain religion, as in those of others also, that at such times epoch-making and new-life-pouring reformers have come forward to open before the eyes of the followers new paths, fresh avenues, and better ways of life.

Among such epoch-makers and reformers Shree Rajendra Suri occupies an unique place. At a time when the leaders of religion were enjoying a nap of leisure, and their followers were indulging in the superstitious beliefs about ghosts and spirits, and the Jain civilization was fading away, the firmament of Jainism was enlightened by a new star. It was for this new comer to restore back to the faith its old grandieur and status by his sleepless vigilence, keen search for truth, austerity and fearlessness.

Shree Rajendra Suri was born as a merchant's son, and in the early stages of life he had travelled a good deal as a tradesman. On many

occasions during these travels case he showed how bold, resourceful, and adventurous he was. It was this young man who saved Sheth Saubhagyamalji from the tyranny of plunderers, and cured his daughter of an incurable disease. He was then known as Ratnaraj.

The father of Ratnaraj was known by the name of Rushabhdas, and the mother as Kesharibai. Bharatpur was their native place. Our hero was born on the seventh day of the bright half of the month of Posh of Samvat 1883. He had an elder brother named Manikyachand and a younger sister called Prema Ben.

After the passing away of the parents he successfully persuaded his elder brother to permit him to wear the white robes of a Sadhu, when he was barely twenty one years of age. His Guru Vijaypramodsuri sent him to Yati Sagarchandra of the Kharatar Gachha for receiving instructions, and there this young disciple showed glimpses of genius. After that he passed some time with Acharya Davendra Suri for further studies and experience, and won a place of honour in the estimation of that Acharya on account of his exceptional qualities and virtues. The Acharya appreciated his worth and taught him thoroughly the principles of religion. The progress of Ratnaraj

in the Path does not appear to be markedly rapid upto this stage. But then happens an incident which helps to bring out his hidden capacities. This single event manifests the unique qualities of the hero of this sketch.

× × × ×

Devendra Suriji was nearing the end of his life. He summoned before his death-bed his chief disciples Dharnendra Vijaya and Panyas Ratna Vijaya (afterwards known as Rajendra Suri) and said to the later, as if it were the expression of the last will of his life "I leave Dharnendra under your care."

After the passing away of Devendra Suri, Ratna Vijayaji carried out the will of his master by moulding Dharnendra Suri's life. On the other hand Dharnendra Suri also appreciated the greatness of Ratna Vijaya by conferring on him the post of "Daftari".

The position of 'Daftari' was at that period held in great esteem among the 'Yatis'. It was among them similar to the position of a minister in a royal court. To-day the custom of having Daftaris is almost extinct, but in those days none dared disobey the order of the head of the church or his 'Daftari'. These heads of the order were the 'de facto' rulers of the whole

sect of Jains. They wielded the power of punishing offenders, of dictating the mode of living during the four months of the monsoon, and of conferring positions. The 'Daftari' acted as the chief guide to the head in all such matters. Moreover it was left to the discretion of the Daftari to decide the channels for spending the money that came in the hands of the Head of the Order.

The Heads of the church in a way enjoyed the privileges of ruling chiefs. The Mogul Emperor Akbar had conferred on Hirvijaya Suriji the honour of the palanquin and such other appendages of royalty, which, however the recepient of the honour little liked to make a show of. But in course of time his successors took delight in the enjoyment of these decorations. They even felt offended if the temporal rulers did not honour them with these distinctions. The ruling Chiefs of Bikaner and Jodhpur had at one stage considered it necessary to place some control over such temporal honours enjoyed by the spiritual guides of the people.

However Ratna Vijayaji, could so far impress these Ruling Chiefs by his personality and outstanding qualities as to make them confer these marks of honour on Dharnendra Suriji. Thus he did carry out the last will of his late Guru.

The personal relations between [illegible] were very sincere and pure. Each [illegible] the other as he should, and [illegible] fraternal love between them.

Then happened an incident which brought [illegible] unforeseen change in this situation.

The holy days of Paryushana drew near. The disciples of Dharmendra Suri from far and near gathered round him for religious exercises. These are the days of penance when the sins and shortcomings of the past are washed away and fresh vows for a better and a purer life are made. However, even during these days an event took place which brought a sudden change in [illegible] Vijayaji's mode of life, and even as a snake casts off his worn-out skin, he bade farewell to his surroundings and associations, and left them. It happened in the following way.

The sacred period of Paryushan had commenced. These are the days when the worldly people, otherwise every day engrossed in the business of the market and household affairs, anyhow make up their minds to enter into a spirit of otherworldliness by dedicating a whole week to religious life. This is one and perhaps the only peculiarity associated with these holidays.

It awakens as if from a sleep of forgetfulness, the followers of the religion who find themselves arrested in the midst of earthly pursuits and enjoyment of luxuries, by a call from above. They seem to believe then, that some dearly loved thing is restored to them, and cutting themselves off from the usual routine of every day life, devote themselves to the visits of temples and worship and hearing of sermons. In fact there is a wave of enthusiasm about the practice of austerities and consecration of their entire time and energy to the reverence of the holy men and listening to whatever they say. There is an eagerness to wash off the dirt of the body and the mind among the whole class of disciples. Men and women and children, the learned and the illiterate, the young and the old each one of them is inspired to do his best in the direction of religious exercises. They seem to be on a watch for the advent of this week, and welcome its presence with all possible devotion and sincerity.

This spirit had completely pervaded over the holy seat of Ghanerav. The devotees were both sincere and rich, and Dharnendra Suri with his group of disciples had created for them a tense atomsphere of devotion

And in the course of these days one sincere

next day, but it created a deep pang into the very soul of Shree Ratan Vijayaji.

And he could not control his feelings on this occasion, but gave vent to them by speaking many a harsh word of reproach to Dharnendra Surin. All this was the outcome of his own faithful belief that the Sadhus should never think of indulging in any sort of luxury and should accept no gift that he did not need.

Another man in his place would have been charmed at the very sight of the overflow of riches, grandieur and luxuries round the Guru Not so Shree Ratna Vijayaji. He would not tolerate the leader being led by the followers. He would not understand the keeper of the souls of his flock yielding to the temptation of even a thing like attar.

Shree Ratna Vijayaji foresaw the decline and spiritual fall of the venerable Gurus and Sadhus. He understood where exactly this would lead them. A passing incident like that of the gift of attar to a Guru by a devotee led him to think long and deep, about the problem of the spiritual decline and fall of the whole sect of the Sadhus.

And the result of this was that he bade fare well to his associations and surroundings and

In the course of the conversation the Suriji clearly explained to the Nawab the goal of all religions. He kindled a new lamp in the heart of the Nawab by clearly impressing on him the truth that the seeker after the salvation of the soul was not hindered or obstructed by the minor distinctions of colour, caste or creed.

Hazrat Noor Khan, the Prime Minister of the Nawab could not help putting the following question :—

"You come in touch with numerous beautiful ladies in the course of your preachings and travels, and how can you possibly remain above the temptation of enjoying with them ?

And he replied :—

'A meat eater would naturally be attracted towards the ralish of a nicely cooked dish of meat. But if the man be a Mohammedan, and the dish happen to be pork, he would feel a hearty dislike for it. The Munis look upon all women as their sisters and daughters, and for them the struggle between enjoyment of beauty and renunciation does not arise."

He also pointed out to them to what a low stage descended those who yielded to that tem-

ptation, and so beautiful was his exposition that both the Nawab and his minister felt perfectly convinced, and understood the genuine value of the preacher and his teachings.

× × × ×

Dharnendra Suri, with the passing of days began to feel the great loss he had sustained in the parting of Rajendra Suri. He started negotiations for the return of the lost companion.

Rajendra Suri had not forgotten the promise he had given to Devendra Suri, the Guru who formed his mind, on his death bed, "I will take care of Dharnendra Suriji." And he really saw that there was a change of heart on the part of Dharnendra Suri which prompted the negotiations. He really believed that if the latter agreed to follow some concrete conditions, there was ample scope for future reform of the whole sect.

The terms dictated by him before he rejoined them amply reflect upon the state of things prevailing in those days. There was nothing by way of personal honour, status or comfort that he sought by those conditions. What he was concerned with was the regeneration of the holy men of his religion, and their observance of the rules and ceremonials of the creed. He had no

personal likes or dislikes for any men among them. He merely aimed at the uplift of their souls so as not to allow them to waver before trifles, and make them strong enough to shed their lustre before the world. This was his motive in dictating certain hard and fast rules for the conduct of the Yatis.

Each of the new rules dictated by Rajendra-Suriji, in fact, each term of the condition imposed by him presents a faithful picture of the life and conduct of the groups of the Yatis of those days. Guided by the wording of the terms, we shall try to realise the picture. They run as follows:—

(1) Shree Rajendra Suri lays great stress on strict observance of such practices as '*Prati-kraman, Padilehan & Pachhkhan.*' He discourages the use and practice of preserving talismans and such other metal-made things by the Yatis, and exhorts them to welcome and encourage among the followers, visiting of temples and repeating the sacred vows every day. This leads us to believe that the Yatis of those days were very slack in the practice of such daily performances as they were required by the religion to observe.

(2) In the second condition the Suriji clearly forbids the use of horses, carriages and vehicles

use of tobacco, hamp bhang, and such other intoxicants. One slip would lead to another, and a Sadhu who indulges in such things would easily yield to the temptation of the forbidden meals after sunset and a ralish for garlic, onions and such harmful vegetables. The Surup clearly says here that the Sadhus should never even once come under the shadow of the influence of such articles and should strictly keep away from the company of such as are habituated to their use.

(6) This item discourages the use of toilets, cleaning of teeth with a tooth-brush, baths, and such other practices. The Sadhus, says the Surup, are not expected to pay such attention to the physical body as would lead them to cut off green trees and vegetables and to use unboiled water. Anointing one's person, bathing or washing hands and feet in wells and tanks, and cleaning the teeth by the stick cut from a Babul tree—none of these should be practised by the Sadhus.

(8) Here our Suriji discourages the practice of extorting money from rich disciples. In fact the Sadhus are supposed to have no money in their possession, and when once this greed for possession vanishes, there remains no need for extorting money. But the practice appears to have been so deeply rooted in the lives of the Sadhus that it was not an easy matter even for our Suriji to put a stop to it with one stroke of the pen. A good deal of opposition was likely to arise as a result of this, since the Sadhus valued money like businessmen in those days, and even for a reformer like Suriji such a step was risky. It may create an earthquake for those concerned, and may give rise to unforeseen troubles. The path of reformers is never smooth, and our epoch-making reformer even very cautiously trod the soil here.

(9) Abstaining from misleading preachings, moving out at night time, playing such games as Chopat and chess, growing long hair on the head and the use of shoes of any sort, practising the recitation of 500 Gathas every day, was the next item. This indicates that the Suriji expected the Sadhus to live in a state of Awareness every day and every hour of the day.

And on the strength of his wide influence

It is a commonplace experience that an excess of undue devotion for gods and goddesses kills the innate capacities of faithful devotees. It has the tendency to strengthen the blind belief that the key to the treasure of all riches and prosperities lies in the hands of these deities, and that man is but a feeble creature, helpless to do anything without their assistance. This belief has been strengthened in all ages by priests, preachers and sellers and propagandists of incantations and talismans. It has been so in every age, and we can not boldly say that even our own age is free from such beliefs and practices.

Rajendra Suriji saw the evil of this. He could observe that even the salvation of the soul could not be saught by the devotees but through the agencies of gods and goddesses, and when such was the case, naturally priest-craft would profit at the cost of religion. He aimed at entirely checking this evil, and so he came foreword to proclaim boldly:—

"It is not an essential part of religious practices to dedicate oneself to the worship of gods and goddesses."

This bold announcement created a stir among the followers of the faith. Those whose heads

ever bowed down before the shrines of these deities were shocked beyond measure on hearing this bold announcement. But they could at the same time feel the greatness of the man who had the boldness to proclaim this. When man stood in awe of man and could not easily free himself of it, it was no common feat of human boldness to throw off all the fear and awe of superhuman beings.

And on the other hand those who, as agents of these gods and goddesses on the earth, conducted regular business and made profits, saw in this a clear loss to their business and feared that the charms and amulets which they sold in the name of the supernatural powers would not find their value in the market.

And much heated discussion arose out of this. There is a regular prayer devoted to gods and goddesses in religious books. Shree Rajendra Suriji had the boldness to announce that this part of the religious prayers was an interpolation and had no authenticity of religious sanction behind it. On hearing this his critics called him founder of a new religious sect. But Suriji did not mind any of these things. To him truth was truth for its own sake. He aimed at a better faith and a nobler mode and code of life for the

priests of the faith, and did not care for the opinions of the orthodox.

On the contrary this gave him an opportunity for the introduction of a new code of conduct for the Sadhus and their devotees. Here he could express his dislike for the various coloured garments used by the Sadhus and the high price which their disciples had to pay for them.

As it has been observed in the lives of all the reformers of the world, so also we have occasions to observe in the life of the hero of this sketch, that he had to face great oppositions and enter into heated debates with his opponents. He was ultimately able to maintain his opinion and prevail upon his opponents to look at things from his own angle of vision.

Nor were his capacities confined to religious debates only. He was equally great in his own observances of religious practices. Entire fasts for two or three or eight days, in succession were a very common practice with him.

Oftentimes we find him entering caves not visited by men before, and throwing himself in an attitude of meditation for long periods. In severe cold, strong sunshine and under torrents of rain he has been observed to enter thick forests and

undergo stern austerities which were not known to the Sadhus of his day.

He traversed enormous distances during his travels and offered worship to the Jin Idols with all proper rites. He restored peace between the Mehajans of different places whose quarrels had gone beyonnd the hope of any reconciliation. This was a valuable service that he rendered to his co-religionists in Mewar and Marwar.

It is said about a philosopher that when he was once sitting deeply engrossed in writing, a great army marched by him and he was not aware of it. This is the attitude of all Yogis and thinkers.

If we observe a writer sitting in the midst of a battle field, around whom arrows fly from all sides, and yet unheeding these messengers of death, pursuing his own work with concentration and an even mind, we can not help feeling reverence for him.

Shree Rajendra Suriji was a reformer. He was an austere disciplinarian, and a torch-bearer to those who struggled in darkness. But he was also an all-round penman, and in the very midst of the battle-field of this world, he sat, headless of the arrows shot at him, and poured his thoughts in many forms of books which are for us to-day a valued treasure.

And it is no exaggeration if we say that his whole life was passed on a sort of battle field. For the sake of noble principles he had to fight with his co-workers and followers. He had to kindle light where darkness was the thickest. and the inmates of those regions of darkness revolted against the ray of light. This task was more difficult than that of those who fight against people of other religions, since it would need extreme patience to bring to the right path the lost sheep of one's own fold. Love was the only weapon he could wield, and sympathy was his only stimulent. His heart shed tears on many an occasion, and he bore all opposition for the sake of his fraternity.

If the Suriji had only chosen literature as the mission of his life, even then he would have left an immortal name behind him. In spite of his varied activities in many fields he found time to write as many as fifty-two books, and of these Abhidhan Rajendra Kosh is an unique treasure for all times and an epitome of learning among all religious books.

Both Eastern and Western reviewers have spoken very highly of this Abhidhan Rajendra Kosh and expressed very high opinions for its very learned author. It is their firm opinion that this one work in itself is a sufficient monument

of the Suriji and precious enough to afford him a place among first-rate writers of all ages.

A fighter by birth against the evils of his age, the Suriji was at heart a sober and serious sage with high spiritual qualities, and had to wield arms against certain mal-practices of his day because he was born to usher light where chaos and darkness ruled. In him we find the hero as a thinker, a warrior and a torch-bearer. Epoch-makers are gifted with such qualities of head and heart.

And let us picture before our eyes a variety of activities of diverse nature, and watch and follow the manysidedness of his mission. We find him at one time exhorting his followers to throw off the narrowness and feebleness that did not befit their creed. At another time we find him in solitudes and wildernesses, practising austerities of a stern nature. Next we observe him in the midst of a host of opponents, entering into debates and arguments with them and winning them over to his view-point by love and reason. Often we meet him travelling over long and weary distances through wildernesses and forests, and ever carrying peace and patience wherever he went. And once again we find him as an accomplished pen-man and scholar, composing and contributing to the literature of the world, works of a rare and unique nature.

Suriji lived to the age of eighty years. However, when we take a review of the many-phased activities of his life, we can not but feel that he came with a mission and dis-appeared like a star of the first magnitude from the sky when he saw that his mission was accomplished. But for his advent the society for whose regeneration he descended on the earth would have sunk down into a state of chaos and anarchy, without the hope of ever emerging out of that state. Epoch makers and seers arrive when the world needs them and do not over-stay their time.

And Jainism grew richer and nobler by his mission. He was, for his friends and followers a torch-bearer that led them from darkness to light. He was a friend, philosopher and guide to thousands that went astray in spite of themselves. He created oases in the hearts of deserts and made rivers flow where the soil was growing dry and dead. Even those who disagree with his views can not but admire his lofty character, his noble sincerity his unselfish efforts for his fold and his high qualities. Such prophets have age after age kept alive the splendours of human race and added to the glory of mankind. May their memory be ever green on the soil of our hearts !